पञ्चम बार : ४०००

मूल्य १)

मुद्रक : जगतनारायणलाल, हिन्दी साहित्य प्रेस, प्रयाग

समर्पण

भूत-भावन भगवान् शङ्कर ! यह भी आपकी ही
प्रेरणा का फल है कि आज यह प्राचीन
पद्य-सग्रह या खरा-खोटा जैसा कुछ
बन पडा है, आपके अभयप्रद
श्रीचरणों मे सादर
समर्पित है ।

सम्पादक

प्रकाशकीय

स्वर्गीय श्रीमान् बड़ौदा नरेश सर सयाजीराव गायकवाड़ महोदय ने बम्बई सम्मेलन में स्वयं उपस्थित होकर ५,०००) रुपये की जो सहायता सम्मेलन को प्रदान की थी, उससे सम्मेलन ने सुलभ साहित्य-माला के अन्तर्गत कई उत्तमोत्तम पुस्तकें प्रकाशित की हैं। प्रस्तुत पुस्तक उसी माला में प्रकाशित हो रही है।

साहित्य मन्त्री

प्रस्ताव

हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन की प्रथमा परीक्षा के छात्रों को अधिक तथा विशेष विज्ञ बनाने की सदिच्छा से प्रेरित होकर हमारे मित्र पण्डित श्रीकृष्ण शुक्ल ने 'प्राचीन-पद्य प्रभाकर' नाम का संग्रह प्रस्तुत किया है। प्रायः लोगों की यह धारणा हो गई है कि संग्रह करने का काम परम सरल है। दो-चार पोथियाँ बटोरीं और आँख मूँद कर कुछ इधर से और कुछ उधर से लेकर एक संग्रह बना डाला। यह प्रायः ऐसे लोगों द्वारा होता है जिनकी पहुँच ऊपर तो दूर तक होती है, पर नीचे छात्रों तक नहीं हो पाती। इसलिये इन संग्रहों के मारे अध्यापक गण के नाकों दम है। दो-चार संग्रह अध्यापकों द्वारा भी प्रस्तुत किए गए हैं, किन्तु उनमें भी वही व्यापक भूलें हैं। कारण यही है कि अपने पथ-प्रदर्शकों के सुझाए हुए मार्ग से बहकने का साहस वे नहीं कर सकते। किन्तु प्रस्तुत संग्रह इस दृष्टि से अनूठा ही है। पं० श्रीकृष्ण शुक्ल ने शिक्षा-शास्त्र की कसौटी पर एक-एक छन्द कसा और जिसमें तनिक भी खोट हुई उसे अलग कर दिया। जो है वह खरा कुन्दन है। कोई भी पिता अपने बालक के हाथ में यह संग्रह देकर प्रसन्न ही होगा। फिर इसमें एक विशेषता यह भी है कि बालक स्वतः इसके पद स्मरण करने को लालायित होंगे।

एक शिक्षा-शास्त्री का कथन है कि काव्य पढ़ाने का उद्देश्य तो यह होना चाहिये कि काव्य की ओर छात्रों की रुचि बढ़े, वे चाव से और भी अधिक काव्य पढ़ने तथा कविता के रस में आकण्ठ निमज्जित होने के लिये उत्सुकता दिखावें। पर हमारे बहुत से विद्वान् मित्र अपने काव्य-संग्रहों में खोज-खोज कर ऐसे-ऐसे पद भर देते हैं जिनमें मूल पाठ भी प्राप्त नहीं है, जिनके रचयिता का भी ठिकाना नहीं है, और जिनमें ऐसे परमार्थ-तत्त्व भरे हुए रहते हैं कि बड़े-बड़े योगी लाख सिर पटकने

पर भी उनकी थाह न पा सकें। यह सब ढोंग किया जाता है काव्य-प्रतिनिधित्व लाने के लिए। काव्य-प्रतिनिधित्व शब्द की जैसी भ्रमपूर्ण मीमासा हिन्दी काव्य-संग्रह-कर्ताओं के मस्तिष्क से उत्पन्न हुई है, वैसी किसी दूसरे साहित्य में नहीं हुई। इसका कारण कुछ तो अहम्मन्यता है, कुछ ज्ञान-लव-दुर्विदग्धता है, कुछ पल्लव-ग्राहिता है, और बहुत कुछ है असावधानी और अनधिकारी चेष्टिता। मुझे प्रसन्नता है कि पं० श्रीकृष्ण शुक्ल ने उस दूषित जाल से अपने को मुक्त कर लिया है।

पाठ्य-पुस्तक निर्माण करने के जो तीन प्रमुख सिद्धान्त हैं उनका भी शुक्ल जी ने पालन किया है। वे नियम ये हैं

(१) पाठ्य-पुस्तकों के पाठ छात्रों की रुचि, ज्ञान और मनोवृत्ति के अनुकूल हों।

(२) पाठों में कहीं कोई भी ऐसी बात प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से निहित न हो जो उनके मन में काम-वासना जागरित करे या उस क्षेत्र का ध्यान भी दिलाये।

(३) गूढ शास्त्रीय विषयों का समावेश न हो।

इस प्रकार शिक्षा-शास्त्र द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों की कसौटी पर कस कर यह संग्रह उपस्थित किया गया है। मुझे यह देखकर अत्यन्त हर्ष हुआ कि शुक्लजी ने प्रत्येक तर्कपूर्ण सम्मति का आदर किया और जो-जो आवश्यक परिवर्तन उन्हें उनके मित्रों ने सुझाए वे उन्होंने कर दिए। जिस लगन, परिश्रम, उत्साह और योग्यता से यह संग्रह प्रस्तुत किया गया है वह अन्य संग्रहकर्त्ताओं के लिए आदर्श होगा, इसमें कोई सन्देह नहीं। "यह पूर्ण है" यह कहने की धृष्टता तो न मैं कर सकता हूँ, न शुक्लजी ही, किन्तु पूर्णता की ओर अधिक से अधिक अग्रसर होने का यह सत्य तथा निश्छल प्रयास है, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं। जितने ही अधिक विद्वानों की सुदृष्टि इस पर पड़ेगी और वे जितना ही निष्पक्ष होकर सहृदयता और सत्यनिष्ठा के साथ इसकी त्रुटियों की ओर ध्यान दिलायेंगे उतना ही इसका रूप निखरता जायगा।

और अगले संस्करण में उचित सुधार करने का अवकाश मिल जायगा।

इस संग्रह की ठीक परख तो तब होगी जब अध्यापक लोग अपने विद्यालयों में इसे पढ़ाना आरम्भ करेंगे। किस कविता को पढ़कर छात्र उल्लास से नाच उठते हैं, किसे पढ़कर मुँह बिचकाते हैं, ये सब बातें जानने पर ही निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि संग्रह ठीक उतरा है या नहीं। मेरा विश्वास है कि छात्र गण को भी यह संग्रह अच्छा लगेगा, क्योंकि इसके संग्रह कर्त्ता छात्रों के सम्पर्क में रहते हैं, उनकी प्रवृत्तियों, भावनाओं और इच्छाओं का निरीक्षण करते रहते हैं, और अनेक वर्षों के अनुभव ने उन्हें यह ज्ञान करा दिया है कि छात्रों को किस घूटी से लाभ होगा, कौन सी वस्तु उन्हें अच्छी लगेगी।

मैं पंडित श्रीकृष्ण जी शुक्ल को उनके इस सफल प्रायास के लिये हार्दिक बधाई देता हूँ और आशा करता हूँ कि वे इस दिशा में आगामी पीढ़ी को उचित पथ दिखायेंगे।

सीताराम चतुर्वेदी

काशी
१ जुलाई १९४२

एम० ए० बी० टी०, एल-एल० बी०, साहित्याचार्य
अध्यापक, टीचर्स ट्रेनिंग कालेज, काशी।

प्राक्कथन

मेरे पास प्रथमा परीक्षा के परीक्षार्थी साहित्य-अध्ययन के निमित्त आया करते हैं। मैं बराबर देखता आ रहा हूं कि उनके लिए प्राचीन पद्य की जो पुस्तकें निर्धारित हैं उनसे उन छात्रों को प्राचीन कवियों की रचनाओं का यथेष्ट रस नहीं प्राप्त होता। हिन्दी-साहित्य का भंडार प्राचीन कवियों की पद्य-रचनाओं मे भरा पड़ा है। जिसमें से केवल दो-चार कवियों की रचनाओं के कुछ संग्रह पद लेने से ही परीक्षार्थियों को प्राचीन काव्य धारा का यथोचित ज्ञान एवं आनन्दानुभव नहीं हो पाता। नवीन छात्रों में प्राचीन काव्य के अध्ययन की यह कमी अवश्य खटकने योग्य है।

मैंने हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन के परीक्षा मंत्री की अनुमति एवं हिन्दी विश्व विद्यालय-परिषद के कुछ सदस्य मित्रों का प्रोत्साहन पाकर हिन्दी के प्राचीन प्रतिनिधि कवियों की उत्तम रचनाओं का यह संग्रह किया है।

इसमे सन्देह नहीं कि हिन्दी के प्राचीन काव्य में अत्यधिक शृङ्गार-रस का समावेश है, और मुझे संग्रह तैयार करना था नवयुवक छात्रों एव छात्राओं के लिए। समस्या कुछ विषम-सी अवश्य थी; परन्तु फिर भी यह जानकर कि खारे समुद्र मे शङ्ख और घोंघों के अतिरिक्त मोती भी प्राप्त होते हैं मैंने प्राचीन पद्य-सागर से मुक्ता-चयन आरम्भ कर दिया। काव्य-सौष्ठव और भाषा का विचार करते समय यह भी ध्यान में रखना उचित था कि यह संग्रह काव्य-जगत् मे प्रवेश करनेवाले प्राथमिक छात्रों के लिए है। उनका हृदय शृङ्गार-रसस्वाद के उपयुक्त कदापि नहीं होता। ऐसे नवयुवकों मे प्रथमतः ऐसे ही भावों की जागृति करनी चाहिए, जिनसे उनकी मानवता चेतन हो उठे और उनकी कोमल और उग्र दोनों प्रकार की भावनाएँ सजग होकर उन्हें संसार की व्यावहारिकता का ज्ञान कराने में सहायक हो सकें।

सुतराम्, काल-विभाग के विचार से मैंने वीर-गाथाकाल की रचनाएँ भाषा की क्लिष्टता के कारण उपयुक्त नहीं समझीं। भक्ति-काल के निर्गुण पथ की रचनाएँ भी प्रारम्भिक छात्रों के योग्य नहीं होतीं। क्योंकि उनके विषय प्रायः निगूढ निर्गुण-ब्रह्म निरूपण, ध्यान, समाधि, योग आदि तत्त्व-ज्ञान से सम्बन्ध रखने वाले होते हैं, जिनके समझने के लिए प्रारम्भिक अवस्था वाले छात्रों की बुद्धि परिपक्व नहीं होती।

अस्तु, मैंने भक्ति-काल के सगुण पद की रचनाओं से ही ग्रन्थारम्भ करना उपयुक्त समझा। इस धारा में दो शाखाएँ हैं। एक राम भक्ति शाखा और दूसरी कृष्ण-भक्ति-शाखा। प्रथम शाखा में कविकुल चूड़ामणि गो० तुलसीदास ही की रचनाएँ सर्वश्रेष्ठ हैं और द्वितीय शाखा के तो अनेक धुरंधर कवियों की रचनाओं से हमारे साहित्य का भण्डार भरा पड़ा है। कृष्ण-भक्ति-शाखा के प्रमुख कवि महात्मा सूरदास की कुछ अनूठी रचनाओं के संग्रह के साथ-साथ राम-भक्ति-शाखा के कवि-शिरोमणि गो० तुलसीदास जी की रचनाओं में से राम-चरित-मानस का 'भरतसभा-प्रकरण' दिया है। इसमें भगवान रामचन्द्र के अनन्य भक्त भरतजी की प्रभु वियोग-जन्य आन्तरिक वेदना का बड़ा ही स्वाभाविक चित्र चित्रित हुआ है। इसके द्वारा कवि ने नीति, वैराग्य और करुणा की त्रिवेणी भगवान रामचन्द्र के चरणों की ओर बड़ी ही कुशलता से बहायी है। मानस में यह प्रकरण ऊँचे दर्जे के काव्य गुणों से युक्त है। इसके अतिरिक्त कवितावली के लंकादहन एवं हनुमान की युद्ध-वीरता के प्रसंग के कुछ चुने हुए कवित्त दिए गए हैं, जिनसे वीर, भयानक, रौद्र एवं वीभत्स रसों का क्रमशः आस्वादन होता है। उपर्युक्त दो भक्तों की रचनाओं के बाद कृष्णचन्द्र की अनन्य भक्ति में लीन देवी मीराबाई के पदों का संग्रह दिया गया है। इस प्रकार आरम्भ के तीन पाठों में उच्चकोटि के भक्त और हिन्दी साहित्य के प्रत्न-कवियों की रचनाओं का संग्रह क्रमशः दिया गया है। तत्पश्चात् नरोत्तमदास का सुदामा-चरित्र, गंगा के छवि के कुछ कवित्त, खानखाना अब्दुर्रहीम के दोहे,

एवं सेनापति का ऋतु-वर्णन क्रमशः संगृहीत है। भक्ति-काल के इतने ही कवि प्रतिनिधि रूप मे लिये गये हैं। इनकी रचनाओं मे से शृङ्गार को बहिष्कृत करके नीति, भक्ति, वैराग्य एव प्रकृति-निदर्शन को ही प्रश्रय दिया गया है।

इसके आगे आता है रीति-काल। इस काल के कवियों की अधिकांश रचनाएँ शृंगारात्मक मिलती हैं। इसके दो कारण हैं। एक तो इनके सामने आदर्श-पथ था राधाकृष्ण की प्रेमलीला की शृंगारमयी रचनाओं का, जो महात्मा सूरदास के समय से ही चला आता था। भक्ति-काल के समस्त कृष्णोपासकों ने राधाकृष्ण की प्रेममयी मूर्ति एवं ब्रज विहार का ही वर्णन किया है। वे ही उनके काव्य के प्रधान विषय रहे हैं। इसलिए उन्हें शृंगारात्मक-पथ ही मिला। दूसरे कुछ पेशेवर कवि हुए, जिनके सामने भी वही राधाकृष्ण की प्रेम-लीला का आदर्श-पथ था। उनके आश्रयदाता ऐसे विलासी राजा, रईस, बादशाह और नवाब थे, जिनका जीवन ही शृङ्गार और विलास से ओत प्रोत रहा है। फिर भला वे अपने आश्रय-दाताओं की इच्छा के विरुद्ध काव्य-रचना कैसे कर सकते थे? इन्हीं सब कारणों से हम देखते हैं कि कुछ सन्त महात्माओं और निःस्वार्थी भक्तजनों की रचनाओं के अतिरिक्त हमे अधिक रचनाएँ अश्लील और शृङ्गारात्मक ही मिलती हैं। फिर भी किसी काल-विशेष के प्रतिनिधि कवि होने के नाते हम उनकी रचनाओं से अपने छात्र वर्ग को विमुख रखना भी उचित नहीं समझते। इसलिए इस काल के कुछ प्रमुख कवियों की चुनी हुई रचनाओं का हमने संग्रह किया है, जो शृङ्गारी छींटों से बची हुई रह सकी हैं। रीति-काल के प्रमुख कवियों में से बिहारीलाल के भक्ति और नीति विषयक दोहे ही चुने गए हैं। वास्तव में ये प्रतिनिधि हैं शृगार-रस के भक्ति, नीति या वैराग्य इनका कविता-विषय नहीं है। परन्तु इनका वास्तविक प्रतिनिधित्व शृङ्गार रूप मे दिखाना हमें अभीष्ट नहीं।

भूषण कवि रीति-काल के शृंगार-जगत् में रहकर भी उसमे फँसते

नहीं दिखायी देते। उस काल में यही एक वीर-रस का प्रतिनिधि कवि था जिसने छत्रपति शिवाजी की तलवार दक्षिण भारत की म्यान से निकाल कर उत्तर भारत में चमकाई थी। जिस समय भारत के कविगण अपने आश्रयदाताओं को रंगमहल का विलासमय जीवनोपभोग कराने में अपनी पवित्र वाणी एवं लेखनी को कलुषित कर रहे थे, उस समय भारत में भूषण की वाणी सिंह-गर्जन करती हुई वीर राजपूतों की तलवार चमकाने में प्रवृत्त थी। जिस समय भारत में उत्तान शृङ्गार के बादल मँडरा रहे थे, उसी समय दक्षिण भारत में भूषण की ओजस्विनी वाणी की बिजली ऐसी चमकी और इतने जोरों से कड़की कि एक बार सारा भारतवर्ष दहल उठा। मोह-निशा में सोये हुए सिंह भूषण की कड़क से जग पड़े। यह था कवि भूषण की लेखनी का प्रताप। अतः भूषण अपने समय के वीर रस के एक मात्र प्रतिनिधि कहे जा सकते हैं।

भूषण के बाद देव, रसखान पद्माकर, और ठाकुर के चुटीले कवित्त-सवैयों का संग्रह है। इसके आगे आते हैं बाबा दीनदयाल गिरि जो अन्योक्तियों में अपना सानी नहीं रखते। उनकी दस कुण्डलियाँ दी गई हैं।

यद्यपि यहाँ पर प्राचीन काव्य के प्रतिनिधि की रचनाएँ समाप्त हो जाती हैं तथापि अपने कुछ मित्रों के आग्रह से प्राचीनता के पुजारी एवं आधुनिक गद्य के जन्मदाता श्री भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की रचना का एक पाठ प्राचीन-काव्य शैली के उपसंहार-रूप में दे दिया गया है। इस प्रकार प्राचीन-काव्य के पन्द्रह प्रतिनिधि कवियों की रचनाएँ इस पुस्तक में संगृहीत हुई हैं।

विद्यार्थियों की सुगमता के विचार से कठिन शब्दों के अर्थ प्रत्येक पृष्ठ की पाद-टिप्पणी के रूप में दे दिये गये हैं। ग्रन्थ के अन्त में परिशिष्ट-रूप में रसों का संक्षिप्त परिचय 'नवरसालोक' नाम से दिया गया है, एवं इस संग्रह में आए हुये छन्दों के लक्षणादि से अवगत होने के लिये 'छन्दसारावली' नाम से एक छोटा-सा परिच्छेद दिया

गया है, जिसमें प्रत्येक छन्द का लक्षण उसी छन्द में दिया गया है। इससे छात्रों को कंठस्थ करने में सुभीता होगा और साथ ही प्रत्येक लक्षण अपने छन्द का उदाहरण भी हो जाता है।

अन्त में मैं अपने प्रोत्साहकों एवं सत्परामर्शदाताओं को कृतज्ञता एवं धन्यवाद-पूर्वक स्मरण करना कदापि नहीं भूल सकता। इस संग्रह का तैयार करने में सबसे अधिक प्रोत्साहन देनेवाले हैं प्रो० दयाशंकर दुबे एम० ए०, एल० बी० (परीक्षा-मंत्री, हिन्दी-साहित्य-सम्मेलन) तथा इसके सङ्कलन में समय समय पर सत्परामर्श द्वारा प्रोत्साहन देने वाले एवं ग्रन्थारम्भ में 'संस्तव' लिखकर इस संग्रह की प्रतिष्ठापना करने वाले हैं हमारे मित्र, हिन्दी-संस्कृत-पाली के विद्वान् एवं शिक्षा-शास्त्र के विशेषज्ञ, सुयोग्य प्रोफेसर पं० सीताराम चतुर्वेदी एम० ए०, एल०-एल० बी०, बी० टी०, साहित्याचार्य जिनके प्रति अनेक धन्यवाद सहित कृतज्ञता-प्रकाश करने से मुझे परितृप्ति नहीं होती। उनकी कृपा का आभार मुझ पर सदा बना रहेगा।

काशी
गङ्गा दशहरा
सं० १९९९ वि०

विनीत,
श्रीकृष्ण शुक्ल

अनुक्रम

१ महात्मा सूरदास

विक्रम की पंद्रहवीं और सोलहवीं शताब्दी में वैष्णव धर्म का आन्दोलन देश के कोने-कोने में फैल रहा था, जिसके प्रधान प्रवर्त्तकों में महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी थे। आपका जन्म सं० १५३५ में हुआ था और गोलोकवास सं० १५८७ में।

स्वामी शंकराचार्य ने निर्गुण को ही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप कहा था, और सगुण को व्यावहारिक या मायिक रूप। परन्तु महाप्रभुजी ने सगुण को ही असली पारमार्थिक रूप बतलाया और निर्गुण को उसका अंशतः तिरोहित रूप। इन्होंने भक्ति की साधना के लिये प्रेम को मुख्य और श्रद्धा को सहायक माना है। महाप्रभुजी ने मथुरा में अपनी गद्दी स्थापित की और वल्लभ सम्प्रदाय चलाया। महाप्रभु और उनके पुत्र गो० विट्ठलनाथजी के शिष्यों में से आठ मुख्य शिष्य थे, जो अष्टछाप के नाम से विख्यात थे। उनके नाम ये हैं सूरदास, कुंभनदास, गोविंद स्वामी, चतुर्भुजदास, छीत स्वामी, नन्ददास, कृष्णदास, और परमानन्ददास। ये सभी कवि और कृष्णोपासक भक्त थे। इनकी रचनाओं से व्रजभाषा को बहुत ऊँचा स्थान मिला, जिनमें सूरदास जी की रचना सर्वश्रेष्ठ मानी जाती है। वल्लभ-संप्रदाय के अनुयायियों ने कृष्णचन्द्र की प्रेम लीला का ही गुणानुवाद किया और उनकी शृंगारात्मक मूर्त्ति की ही उपासना चलाई। उन्होंने कृष्ण के लोक रक्षक और धर्म-संस्थापक रूप को लोक के सामने रखने की आवश्यकता नहीं समझी, प्रत्युत राधाकृष्ण की प्रेमलीला ही सब ने गाई। सुतराम सभी कृष्णभक्त कवि श्रीमद्भागवत में वर्णित कृष्ण की व्रजलीला को ही लेकर चले।

महात्मा सूरदासजी का जन्म मथुरा और आगरे के बीच रुनकता ग्राम में हुआ। यह सारस्वत ब्राह्मण थे जन्माध थे या बाद में अंधे हुए इस पर मतभेद है। कुछ लोग तो इन्हें चन्द बरदाई केवंशज

मानते हैं। ये व्रज में अपना आश्रम बनाकर रहते थे। एक बार महाप्रभु श्री वल्लभाचार्यजी वहाँ पधारे और (सं० १५८० में) सूर को अपना शिष्य बना लिया। महाप्रभुजी के उपदेश से उनमें कृष्णभक्ति का उद्रेक हुआ। श्रीमद्भागवत के कथा-प्रसंगों के आधार पर इन्होंने तत्कालीन व्रजभाषा में गीति-काव्य की रचना की, जो सूरसागर के नाम से प्रसिद्ध है। भक्त कवियों में गोस्वामी तुलसीदास के बाद सूरदास का ही स्थान है। सूरदास की सारी रचना शृंगार और वात्सल्य से पूर्ण है

(१) विनय

चरन कमल बन्दौं हरि राई।
जाकी कृपा पंगु[1] गिरि लंघै, अंधे को सब कछु दरसाई॥
बहिरो सुनै, मूक[2] पुनि बोलै, रंक चलै सिर छत्र धराई।
'सूरदास' स्वामी करुणामय, बार-बार बन्दौं तेहि पाँई॥१॥

छाँड़ि मन हरि बिमुखन को संग।
जिनके संग कुबुधि उपजति है, परत भजन में भंग॥
कहा होत पय पान कराये, विष नहिं तजत भुजङ्ग[3]।
कागहिं कहा कपूर चुगाये, स्वान न्हवाये गंग॥
खर को कहा अरगजा[4]-लेपन, मर्कट[5] भूषण अंग।
गज को कहा न्हवाये सरिता, बहुरि धरै खहि छंग[6]॥
पाहन[7] पतित बान नहिं बेधत, रीतौ[8] करत निषंग[9]।
'सूरदास' खल कारि कामरी, चढ़त न दूजो रंग॥२॥

मेरो मन अनत कहा सुख पावै।
जैसे उड़ि जहाज को पछी, फिरि जहाज पै आवै॥
कमलनैन को छाँड़ि महातम, और देव को ध्यावै।
परम गंग को छाँड़ि पियासो, दुरमति कूप खनावै॥

---

[1] लँगड़ा। [2] गूंगा। [3] सर्प। [4] सुगंधित लेप। [5] बंदर। [6] धूल। [7] पत्थर। [8] खाली। [9] तरकश।

जिन मधुकर अंबुज-रस चाख्यो, क्यों करील[1] फल खावै।
'सूरदास' प्रभु कामधेनु तजि, छेरी कौन दुहावै ॥३॥

सोइ रसना जो हरि गुन गावै।
नैनन की छवि यहै चतुरता, ज्यों मलिन्द[2] मकरन्दहि ध्यावै।
निरमल चित्त तौ सोई साँचौ, कृष्ण बिना जिय और न भावै॥
स्रवननि की जु यहै अधिकाई, सुन रस-कथा सुधा-रस प्यावै।
कर तेई जे स्यामहिं सेवैं, चरननि चलि बृन्दावन जावै॥
'सूरदास' जैये बलि ताके, जो हरिजू सों प्रीति बढ़ावै ॥४॥

अब के नाथ मोहिं उधारि।
मगन नही भव-अम्बुनिधि मे, कृपा सिंधुमुरारि॥
नीर अति गम्भीर माया, लोभ लहरति रंग।
लिए जात अगाध जल मे, गहे ग्राह अनङ्ग[3]॥
मीन इन्द्रिय अतिहि काटति, मोट अघ[4] सिर भार।
पग न इत उत धरन पावत, उरझि मोह सिवार॥
काल-क्रोध समेत तृस्ना, पवन अति झकझोर।
नाहिं चितवन देत तिय-सुत, नाम नौका ओर॥
थक्यो बीच[5] बिहाल बिह्वल, सुनो करुनामूल।
स्याम! भुज गहि काढि लीजे, 'सूर' ब्रज के कूल ॥५॥

(२) बाल-चरित्र

जसोदा हरि पालने झुलावै।
हलरावै दुलराइ मल्हावै, जोइ सोई कछु गावै॥
मेरे लाल कौ आई निंदरिया, काहे न आनि सुवावै।
तू काहे नहिं वेगि सो आवै, तोकौ कान्ह बुलावै॥
कबहुँ पलक हरि मूँदि लेत हैं, अधर कबहुँ फरकावै।

[1] एक प्रकार का वृक्ष जिसका फल कड़ुवा होता है। ब्रज में इसके वृक्ष अधिक हैं। [2] भौंरा। [3] कामदेव। [4] पाप। [5] लहर।

सोवत जानि मौन ह्वै बैठी, करि करि सैन बतावै ॥
इहि अन्तर अकुलाइ उठे हरि, जसुमति मधुरै गावै ॥
जो सुख 'सूर' अमर[1] मुनि दुरलभ, सो नँदभामिनि पावै ॥१॥

मैया मेरी मैं नहिं माखन खायो।
भोर भयो गैयन के पीछे, मधुबन[2] मोहि पठायो।
चार पहर बंसीबट भटक्यो, साँझ परे घर आयो ॥
मैं बालक बहियन को छोटौ, छींका[3] किहि बिधि पायौ।
ग्वाल बाल सब बैर परे हैं, बरबस मुख लपटायौ ॥
तू जननी मन की अति भोरी, इनके कहे पतियायौ।
जिय तेरे कछु भेद उपजिहै, जानि परायौ जायौ ॥
यह ले अपनी लकुटि कमरिया, बहुतहि नाच नचायौ।
'सूरदास' तब बिहँसि जसोदा, लै उर कण्ठ लगायौ ॥२॥

मैया, मोहिं दाऊ बहुत खिझायो।
मोसो कहत मोल को लीनो, तोहिं जसुमति कब जायो ॥
कहा कहौं यहि रिस के मारे, खेलन हौं नहिं जातु।
पुनि-पुनि कहत कौन है माता, को है तुम्हरो तातु ॥
गोरे नन्द जसोदा गोरी, तुम कत स्याम शरीर।
चुटुकी दै-दै हँसत ग्वाल सब, सिखै देत बलबीर ॥
तू मोही को मारन सीखी, दाऊहिं कबहुँ न खीझै।
मोहनको मुखरिस समेत लखि, जसुमति सुनि, सुनि रीझै॥
सुनहु कान्ह बलभद्र चबाई[4], जनमत ही को धूत[5]।
'सूरस्याम' मो गोधन की सौं, हौं माता तू पूत ॥३॥

आजु मैं गाइ चरावन जैहौं।
वृन्दावन के भाँति-भाँति फल, अपने करते खैहौं ॥
ऐसी अबहि कहौ जनि बारे, देखौ अपनी भाँति।

---

[1] देवता। [2] वृन्दावन। [3] सिकहर। [4] चवाई। [5] धूर्त।

तनिक-तनिक पाँइ चलिहौ कैसे, आवत ह्वै है राति ॥
प्रात जात गैया लै चारन, घर आवत हैं साँझ।
तुम्हरो कमल वदन कुम्हिलैहै, रेंगति घामहिं माँझ ॥
तेरी सौं मोहिं घाम न लागत, भूख नहीं कछु नेक।
'सूरदास' प्रभु कह्यो न मानत, परे आपनी टेक ॥४॥
अद्भुत कौशल देखि सखी री, श्री वृन्दावन होड़ परी री।
उत घन उदित सहित सौदामिनि[1], इतै मुदित राधिका हरी री ॥
उत बग पाँति शोभित इत सुन्दर, धाम विलास सुदेस खरी री।
उत वन गरज इहाँ मुरली धुनि, जलधर उत इत अमृत भरी री।
उतहि इन्द्रधनु इत वनमाला, अति विचित्र हरि कण्ठ धरी री ॥
'सूर' साथ प्रभु कुअँरि राधिका, गगन की सोभा दूरि करी री ॥५॥

(३) उद्धव-संदेश

ऊधौ, तुम ब्रज की दशा विचारौ।
ता पीछे यह सिद्ध आपनी, जोग कथा विस्तारौ ॥
जा कारन तुम पठये माधो, सो सोचौ जिय माही।
कितनौं वीच विरह "परमारथ[2], जानत हो किधौं नाहीं ॥
तुम परवीन चतुर कहियत हौ, सतन निकट रहत हो।
जल बूडत अवलंब फेन कौ, फिरि-फिरि कहा गहत हो ॥
वह मुसकानि मनोहर चितवनि, कैसे उर तें टारै ॥
जोग जुगति अरु कुमति परमनिधि, वा मुरली पर वारै ॥
जिहि उर कमल नयन जु बसत हैं, तिहि निर्गुन[3] क्यो आवै।
'सुरदास' सो भजन बहाऊँ, जाहि दूसरो भावै ॥१॥
हमको हरि की कथा सुनाउ।
ये अपनी ग्यान गाथा अलि, मथुरा ही लै जाउ ॥
नगर-नारि नीके समुझेंगी, तेरो वचन बनाउ।

---

[1] बिजली। [2] परमपद। [3] निराकार ब्रह्म की उपासना।

पालागौं ऐसी इन बातनि, उनही जाइ रिझाइ ॥१॥
जो सुचि सखा स्याम सुन्दर को, अरु जिय अति सतिभाउ।
तो बारक आतुर इन नैनन, वह मुख आनि देखाउ॥
जो कोउ कोटि करै कैसेहू, विधि विद्या व्यासाउ।
तो इन 'सूर' मीन के जल बिनु, नाहिन और उपाउ ॥२॥
और सकल अंगन ते ऊधो, अंखिया बहुत दुखारी।
अधिक पिराति सिराति न कबहूँ, अमित जतन कर हारी॥
चितवति मग सुनिमेष[1] न मिलवति बिरह बिकल भई भारी।
भरि गई विरह-बाइ माधो तन, इकटक रहत उघारी॥
अलि आली गुरु ज्ञान सालाका[2] क्यों सहि सकति तुम्हारी।
'सूर' सुअंजन आँजि रूप-रस, आरति[3] हरौ हमारी ॥३॥
मधुकर इतनी कहियहु जाइ।
अति कृस गात भाई ये तुम विनु परम दुखारी गाइ॥
जल समूह बरषति दोउ आखें, हूकति लीने नाउँ।
जहाँ-जहाँ गोदोहन कीनो, सूघति सोई ठाउ॥
परति पछार खाइ छिन ही छिन, अति आतुर ह्वै दीन।
मानहु 'सूर' काढ़ि डारी है, बारि मध्य ते मीन ॥४॥
उधो हम ऐसे नहिं जानी।
सुत के हेतु मर्म नहिं पायो, प्रगटे सारँगपानी[4] ॥
निसिवासर छाती सों लाई, बालक लीला गाई।
ऐसे कबहूँ भाग होहिंगे, बहुरो गोद खेलाई॥
को अब ग्वालसखा सँग लीन्हें, साँझ समै ब्रज आवै
को अब चोरि-चोरि दधि खैहै, मैया कवन बोलावै॥
बिदिरति नाही ब्रज की छाती, हरि वियोग क्यों सहिए
'सूरदास' अब नन्दनन्दन बिनु, कहो कौन विधि रहिए ॥५॥

---

१ पलक। २ सलाई। ३ दुःख। ४ विष्णु भगवान।

२ गोस्वामी तुलसीदास

गो० तुलसीदास का जन्म सं० १५५४ में जि० बाँदा के अन्तर्गत राजपुर ग्राम में हुआ था। ये सरयूपारी ब्राह्मण, पाराशर गोत्रीय, पतिऔंजा के दुबे थे। इनके पिता का नाम आत्माराम दुबे और माता का हुलसी था। इनके बचपन में ही इनके माता पिता का देहान्त हो गया था, तब मुनिया नाम की एक दासी ने इन्हें पाला पोसा। जब वह भी दिवंगता हो गई तब ये दर-दर मारे-मारे फिरा करते और राम का भजन किया करते थे। कालान्तर में बाबा नरहरिदासजी अपनी मंडली सहित उधर ही से निकले और इन्हें निराश्रय और रामभक्ति में निष्ठ जानकर उन्होंने इनको अपने साथ ले लिया, और अपना शिष्य बना लिया। उनकी सत्संगति में रहकर गोस्वामीजी पक्के रामभक्त हो गए। तत्पश्चात् काशी के परम विद्वान् शेष सनातन जी के यहाँ रहकर इन्होंने वेद-वेदाङ्ग, इतिहास पुराण, साहित्य आदि की पूर्ण शिक्षा पाई। यहाँ से वे पुनः राजापुर को लौट गए। वहाँ भारद्वाज गोत्रीय दीनबन्धु पाठक की कन्या रत्नावली के साथ इनका विवाह हुआ। कुछ दिनों तक गार्हस्थ्य जीवन व्यतीत करने पर इन्हें अपनी स्त्री पर इतना अनुराग हो गया कि एक क्षण के लिये भी उसे पृथक् नहीं करना चाहते थे। एक बार इनकी स्त्री अपने भाई के साथ मैके चली गई। यह उसके अनुराग में भरे हुए अर्ध रात्रि में गुप्त मार्ग से जाकर उससे मिले। इनके इस प्रकार के व्यवहार से इनकी स्त्री को बड़ी लज्जा मालूम हुई, उसने इन्हें खूब फटकारा। इन्हें स्त्री की बात लग गई और वे उसी समय विरक्त होकर काशी लौट आए। फिर यहाँ से चित्रकूट, अयोध्या, जगन्नाथपुरी, रामेश्वरम्, द्वारका होते हुए बदरिकाश्रम गए।

सं० १६३१ की चैत्र शु० को इन्होंने अयोध्या में 'रामचरितमानस'

का लिखना आरम्भ करके उसे दो वर्ष सात महीने में पूरा किया। मानस का कुछ अंश काशी में लिखा गया है। मानस की रचना समाप्त करके ये अधिकतर काशी में ही रहने लगे। रामचरितमानस के अतिरिक्त गोस्वामीजी के रचित और भी ११ ग्रन्थ हैं दोहावली, कवितावली, गीतावली, रामाज्ञा प्रश्नावली, विनय पत्रिका, रामललानहछू, पार्वती-मङ्गल, जानकी-मङ्गल, बरवै रामायण, वैराग्य-संदीपनी, और कृष्णगीतावली। गोस्वामीजी की अधिक रचना अवधी भाषा में हुई है। उनमें ब्रज और बुन्देलखण्डी शब्दों के भी पुट हैं। इनकी रचनाओं में इनकी साहित्य-मर्मज्ञता, भावुकता, और गम्भीरता इतने ऊँचे दर्जे की है कि इनकी कोटि में सूरदास के अतिरिक्त और कोई भी हिन्दी कवि नहीं ठहरता। ये सर्वत्र भावों या तथ्यों की व्यञ्जना करते पाए जाते हैं। इनकी रचना शैली अत्यन्त प्रौढ़ और सुव्यवस्थित है एक भी शब्द फालतू नहीं आने पाया है। गोस्वामीजी की समस्त रचना भक्ति प्रधान है। गोस्वामीजी हिन्दी साहित्य के सर्वाग्रगण्य कविकुल-कलाधर, भक्त शिरोमणि और हिन्दू-जाति के धर्म-रक्षक हैं। मानव जीवन की सारी आवश्यकताएँ, समस्त हिन्दू-आदर्श, मानवता की पराकाष्ठा एकमात्र 'रामचरित-मानस' में संगृहीत हैं। इस धर्म विरोधी-युग में हिन्दू-धर्म और संस्कृति की जितनी रक्षा एक-मात्र 'रामचरित-मानस' से हुई है उतनी हमारे अन्यान्य धर्म ग्रन्थों से कदापि नहीं हो सकी थी।

गोस्वामीजी का देहावसान सं० १६८० में काशी में अस्सी घाट पर हुआ।

(१) भरत-सभा

[प्रसङ्ग-निर्देश भरतजी ने महाराज दशरथजी की क्रिया विधि-वत् पूर्ण की। अनेक प्रकार के दान-विधान से याचकों को पूर्ण सन्तुष्ट करके जब निश्चिन्त हुए तब गुरु वशिष्ठ ने मन्त्रियों और नगर के महाजनों की एक सभा की, जिसमें महाराज दशरथ के देहावसान के बाद

श्रीरामचन्द्रजी की अनुपस्थिति में राज-काज सँभालने के लिये भरतजी को राज तिलक देने का निश्चय करना चाहा। इसी प्रसंग का यहाँ वर्णन किया गया है।]

पितु हित भरत कीन्ह जस करनी। सो मुख लाख जाइ नहि बरनी ॥
सुदिन सोधि मुनिवर तब आये। सचिव महाजन सकल बोलाये ॥
बैठे राज सभा सब जाई। पठये बोलि भरत दोउ भाई ॥
भरत बसिष्ठ निकट बैठारे। नीति-धरम-मय बचन उचारे ॥
प्रथम कथा सब मुनिवर बरनी। कैकइ कुटिल कीन्ह जस करनी ॥
भूप धरमब्रत सत्य सहारा। जेहि तनु परिहरि प्रेम निबाहा ॥
कहत राम गुन-सील सुभाऊ। सजल नयन पुलकउ मुनिराऊ ॥
बहुरि-लखन-सिय-प्रीति बखानी। सोक सनेह मगन मुनिज्ञानी ॥

दोहा सुनहु भरत भावी[1] प्रबल, बिलखि कहेउ मुनिनाथ।
हानि-लाभ-जीवन-मरन, जस अपजस बिधि हाथ ॥१॥

अस बिचारि केहि देइय दोषू। व्यरथ काहि पर कीजय रोषू ॥
तात बिचार करहु मन माहीं। सोच जोग दसरथ नृप नाहीं ॥
सोचिय बिप्र जो वेद बिहीना। तजि निज धरम बिषय लवलीना ॥
सोचिय नृपति जो नीति न जाना। जेहि न प्रजा प्रिय प्रान समाना ॥
सोचिय बयसु[2] कृपिन धनवानू। जो अतिथि सिव भगति सुजानू ॥
सोचिय सूद्र बिप्र अपमानी। मुखर[3] मानप्रिय ज्ञान-गुमानी ॥
सोचिय पुनि पति-बचक[4] नारी। कुटिल कलह-प्रिय इच्छाचारी ॥
सोचिय वटु निज ब्रत परिहरई। जो नहि गुरु आयसु अनुसरई ॥

दोहा सोचिय गृही जो मोह-बस, करइ करम-पथ त्याग।
सोचिय जती[5] प्रपच रत[6], बिगत बिवेक-बिराग ॥२॥

बैपानस[7] सोइ सोचन जोगू। तप बिहाइ जेहि भावहि भोगू ॥
सोचिय पिसुन[8] अकारन क्रोधी। जननि-जनक गुरु-बन्धु-बिरोधी ॥

[1] होनहार। [2] वैश्य। [3] बकवादी। [4] कुलटा। [5] संन्यासी। [6] संसार के प्रेम में पड़ा हुआ। [7] वानप्रस्थी। [8] दुष्ट।

सब बिधि सोचिय पर-अपकारी। निज तनु पोषक निरदय भारी॥
सोचनीय सबही बिधि सोई। जो न छाँड़ि छल हरि जन होई॥
सोचनीय नहिं कोसल राऊ। भुवन चारि दस प्रकट प्रभाऊ॥
भयउ न अहइ न अब होनिहारा। भूप भरत जस पिता तुम्हारा॥
बिधि हरि-हर सुरपति दिनिाथा। बरनहि सब दशरथ-गुनगाथा॥
दोहा कहहु तात केहि भाँति कोउ, करिहि बड़ाई तासु॥
राम-लषन तुम्ह शत्रुहन, सरिस सुअन सुचि जासु॥३॥
सब प्रकार भूपति बड़ भागी। व्यर्थ विषाद करिय तेहि लागी॥
एहि सुनि समुझि सोच परिहरहू। सिर धरि राज रजायसु[1] करहू॥
राय राजपद तुम्ह कहँ दीन्हा। पिता वचन फुर[2] चाहिय कीन्हा॥
तजे राम जेहि बचनहिं लागी। तनु परिहरेउ राम बिरहागी॥
नृपहिं बचन प्रिय, नहि प्रिय प्राना। करहु तात पितु-बचन प्रमाना॥
करहु सीस धरि भूप रजाई[3]। यह तुम्ह कहँ सब भाँति भलाई॥
परशुराम पितु आज्ञा राखी। मारी मातु लोग सब साखी॥
तनय जजातिहि जौबन दयऊ। पितु अज्ञा अव अजस न भयऊ॥
दोहा अनुचित उचित बिचारु तजि, जे पालहिं पितु बैन।
ते भाजन[4] सुखसुजस के, बसहिं अमरपति ऐन॥४॥
अवसि नरस बचन फुर करहू। पालहु प्रजा सोक परिहरहू॥
सुरपुर नृप पाइहिं परितोषू। तुम कहँ सुकृत सुजसु नहिं दोषू॥
वेद बिहित समत सबही का। जेहि पितु देइ सो पावइ टीका॥
करहु राज परिहरहु गलानी। मानहु मोर बचन हित जानी॥
सुनि सुख लहब राम बैदेही। अनुचित कहब न पंडित केही॥
कौसल्यादि सकल महतारी। तेउ प्रजासुख होहिं सुखारी॥
प्रेम तुम्हार राम कर जानिहि। सो सब बिधि तुम्हसन भल मानिहि॥
सौंपेहु राज राम के आये। सेवा करेहु सनेह सुहाये॥

---

[1] राज-आज्ञा। [2] सत्य। [3] राज-आज्ञा। [4] पात्र।

दोहा कीजिय गुरु आयसु अवसि, कहहिं सचिव कर जोरि ॥
रघुपति आये उचित जस, तस तब करब बहोरि ॥५॥
कौसल्या धरि धीरज कहई । पूत पथ्य[1] गुरु आयसु अहई ॥
सो आदरिय करिय हित मानी । तजिय विषाद कालगति जानी ॥
बन रघुपति सुरपुर नर नाहू । तुम्ह एहि भाँति तात कदराहू[2] ॥
परिजन, प्रजा, सचिव, सब अम्बा । तुम्हही सुत सब कहँ अवलंबा ॥
लखि विधि वाम काल कठिनाई । धीरज धरहु मातु बलि जाई ॥
सिर धरि गुरु आयसु अनुसरहू । प्रजापालि पुरजन दुख हरहू ॥
गुरु के वचन सचिव अभिनदन[3] । सुने भरत हिय हित जनु चंदन ॥
सुनी बहोरि मातु मृदुबानी । सील-सनेह-सरल-रस-सानी ॥

हरिगीतिका-छन्द

सानी सरल रस मातु बानी, सुनि भरत व्याकुल भये ।
लोचन सरोरुह स्रवत सींचत, बिरह उर अंकुर नये ॥
सो दसा देखत समय तेहि, बिसरी सबहि, सुधि देह की ।
तुलसी सराहत सबहि सादर, सीवँ[4] सहज सनेह की ॥
सोरठा—भरत कमल कर जोरि, धीर धुरंधर धीर धरि ।
बचन अमिय जनु बोरि, देत उचित उत्तर सबहिं । ६॥
मोहिं उपदेस दीन्ह गुरु नीका । प्रजा सचिव समत सबही का ॥
मातु उचित धरि आयसु दीन्हा । अवसि सीस धरि चाहउँ कीन्हा ॥
गुरु-पितु-मातु-स्वामि-हित-बानी । सुनि मन मुदितकरिय भलि जानी॥
उचित कि अनुचित किये बिचारू । धरम जाइ सिर पातक भारू ॥
तुम्ह तउ देउ सरल सिख सोई । जो आचरत मोर भल होई ॥
जद्यपि यह समुझत हउँ नीके । तदपि होत परितोष न जी के ॥
अब तुम्ह बिनय मोरि सुनि लेहू । मोहि अनुहरत सिखावन देहू ॥
उत्तर देउँ छमब अपराधू । दुखित-दोष-गुन गनहि न साधू ॥

---

[1]उचित, ग्रहण करने का योग्य । [2]डरते हो । [3]अनुमोदन । [4]सीमा, हद

दोहा पितु सुर पुर, सिय राम बन, करन कहहु मोहि राज।
एहि ते जानहु मोर हित, कै आपन बड़ काज ॥७॥
हित हमार सियपति सेवकाई। सो हरि लीन्ह मातु कुटिलाई॥
मैं अनुमानि दीख मन माही। आन उपाय मोर हित नाही॥
सोक समाज राज केहि लेखे। लषन राम-सिय पद बिनु देखे॥
बादि[1] बसन बिनु भूषन भारू। बादि बिरति[2] बिनु ब्रह्म बिचारू॥
सरुज[3] सरीर बादि बहु भोगा। बिनु हरि भगति जाय जप जोगा॥
जाय जीव बिनु देह सुहाई। बादि मोर सब बिनु रघुराई॥
जाउँ राम पहँ आयसु देहू। एकहि आँक[4] मोर हित एहू॥
मोहि नृप करि भल आपन चहहू। सोउ सनेह जड़ता बस कहहू॥
दोहा कैकई सुअ कुटिल मति, राम बिमुख गत लाज।
तुम्ह चाहत सुख मोह बस, मोहि से अधम के राज।८॥
कहउँ साँच सब सुनि पतियाहू[5]। चाहिय धरम सील नरनाहू॥
मोहि राज हठि देइहहु जबही। रसा[6] रसातल जाइहि तबही॥
मोहि समान को पाप निवासू। जेहि लगि सीयराम बनबासू॥
राय राम कहँ कानन दीन्हा। बिछुरत गमन अमरपुर कीन्हा॥
मैं सठ सब अनरथ कर हेतू। बैठि बात सब सुनउँ सचेतू॥
बिनु रघुबीर बिलोकि अवासू[7]। रहे प्रान सहि जग उपहासू॥
राम पुनीत विषय रस रूखे। लोलुप[8] भूमि भोग के भूखे॥
कहँ लगि कहउँ हृदय कठिनाई। निदरि कुलिस[9] जेहि लही बड़ाई॥
दोहा कारन ते कारज कठिन, होइ दोस नहिं मोर।
कुलिस अस्थि ते उपल ते[10], लोह कराल कठोर ॥९॥
कैकेइ भव तनु अनुरागे। पाँवर[11] प्रान अघाइ[12] अभागे॥
जौ प्रिय बिरह प्रान प्रिय लागें। देखब सुनब बहुत अब आगे॥

[1]व्यर्थ। [2]वैराग्य। [3]रोगी। [4]निश्चय। [5]विश्वास करो। [6]पृथ्वी। [7]घर। [8]लालची। [9]वज्र। [10]पत्थर। [11]नीच। [12]तृप्त होकर।

लखन राम-सिय कहँ बन दीन्हा। पठइ अमरपुर पतिहित कीन्हा॥
लीन्ह बिधवपन अपजस आपू। दीन्हेउ प्रजहि सोक संतापू॥
मोहिं दीन्ह सुख सुजस सुराजू। कीन्ह कैकई सब कर काजू॥
एहिं ते मोर काह अब नीका। तेहि पर देन कहहु तुम टीका॥
कैकई जठर[1] जनमि जग माहीं। यह मोकहँ कछु अनुचित नाहीं॥
मारि बात सब बिधिहि बनाई। प्रजा पाँच कत करहु सहाई॥
दोहा ग्रह-ग्रहीत[2] पुनि बात बस, तेहि पुनि बीछी मार।
ताहि पियाइय बारुनी[3], कहहु कवन उपचार॥१०॥
कैकई सुअन जोग जग जोई। चतुर बिरंचि दीन्ह मोहि सोई॥
दसरथ तनय राम लघु भाई। दीन्ह मोहिं बिधि बादि बड़ाई॥
तुम सब कहहु कढ़ावन टीका। राय रजायसु सब कह नीका॥
उतरु देउँ केहि बिधि केहि केही। कहहु सुखेन[4] जथा रुचि जेही॥
मोहि कुमातु समेत बिहाई। कहहु कहिहि को कीन्ह भलाई॥
मो बिनु को सचराचर माहीं। जेहि सियराम प्रान प्रिय नाहीं॥
परम हानि सब कर बड़ लाहू। अदिन[5] मोर नहिं दूषन काहू॥
ससय सील प्रेम बस अहहू। सबइ उचित सब जो कुछ कहहू॥
दोहा राममातु सुठि सरल चित, मो पर प्रेम बिसेखि।
कहइ सुभाय सनेह बस, मोरि दीनता देखि॥११॥
गुरु बिबक सागर जग जाना। जिन्हहि बिस्व कर-बदर समाना[6]॥
मोकहँ तिलक साज सज सोऊ। भये बिधि बिमुख बिमुख सब कोऊ॥
परिहरि राम सीय जग माही। कोउ न कहिहि मोर मत नाही॥
सो मैं सुनब सहब सुख मानी। अतहु कीच तहाँ जहँ पानी॥
डर न मोहिं जग कहहि कि पोचू। परलोकहु कर नाहिन सोचू॥
एकइ उर बस दुसह दवारी[7]। मोहि लगि भे सितराम दुखारी॥

---

[1] गर्भ। [2] ग्रह के फेर में पड़ा हुआ। [3] शराब। [4] सुखपूर्वक।
[5] दुर्दिन। [6] हाथ में रखे हुए बेर के समान। [7] दावाग्नि।

जीवन लाहु लषन भल पावा। सब तजि राम चरन मन लावा॥
मोर जनम रघुबर बन लागी। झूठ काह पछिताउँ अभागी॥

दोहा आपनि दारुन दीनता, कहेउँ सबहि सिर नाइ।
देखे बिनु रघुनाथ पद, जिय कै जरनि न जाइ॥१२॥

आन उपाय मोहि नहिं सूझा। को जिय कै रघुबर बिनु बूझा॥
एकइ आँक इहइ मन माही। प्रातकाल चलिहउँ प्रभु पाही॥
जद्यपि मैं अनभल अपराधी। भइ मोहि कारन सकल उपाधी॥
तदपि सरन सनमुख मोहि देखी। छमि सब करिहहिं कृपा बिसेखी॥
सील सँकुचि सुठि सरल सुभाऊ। कृपा-सनेह-सदन रघुराऊ॥
अरिहुँक अनभल कीन्ह न रामा। मैं सिसु सेवक जद्यपि बामा॥
तुम्ह पै पाँच मोर भल मानी। आयसु आसिष देहु सुबानी॥
जेहि सुनि बिनय मोहि जन जानी। आवहु बहुरि राम रजधानी॥

दोहा यद्यपि जनम कुमातु ते, मैं सठ सदा सदोस।
आपनि जानि न त्यागिहहि, मोहि रघुबीर भरोस॥१३॥

भरत बचन सब कहँ प्रिय लागे। राम-सनेह-सुधा जनु पागे॥
लोग वियोग-विषम-बिष दागे। मत्र सबीजं सुनत जनु लागे॥
मातु सचिव गुरु पुर-नर नारी। सकल सनेह बिकल भये भारी॥
भरतहि कहहिं सराहि सराही। राम-प्रेम-मूरति तनु आही॥
तात भरत अस काहे न कहहू। प्रान समान रामप्रिय अहहू॥
जो पाँवरु[1] अपनी जड़ताई। तुम्हहि सुगाइ मातु कुटिलाई॥
सो सठ कोटिक-पुरुष-समेता। बसहि कलप सत नरक निकेता॥
अहि अघ-अवगुन नहिं मनि गहई। हरइ गरल[2] दुख दारिद दहई॥

दोहा अवसि चलिय बन राम जहँ, भरत मंत्र भल कीन्ह।
सोमसिंधु बूड़त सबहिं, तुम्ह अवलंबनु दीन्ह॥१४॥

[1] नीच। [2] विष।

(२) लंका-दहन

बसन बटोरि बोरि-बोरि तेल तमीचर[1]
खोरि-खोरि धाई आइ बाँधत लँगूर[2] हैं।
तैसो कपि कौतुकी[3] डरात ढीलो गात कै-कै,
लात के अघात सहै जी मैं कहै 'कूर हैं'॥
बाल किलकारी कै-कै, तारी दै-दै गारी देत,
पाछे लोग बाजत किसान ढोल तूर[4] है।
बालधी[5] बढ़न लागी, ठौर-ठौर दीन्हीं आगि,
बिंध की दवारि, कैधों कोटिसत सूर हैं॥१॥
जहाँ-तहाँ बुबुक बिलोक बुबुकारी देत,
"जरत निकेत धाओ-धाओ लागि आगि रे।
कहाँ तात, मात, भ्रात, भगिनी, भामिनी, भाभी,
ढोटे छोटे छोहरा अभागे भोरे भागि रे॥
हाथी छोरो, घोरा छोरो, महिष-वृषभ छोरो,
छेरी छोरो, सोवै सो जगाओ जागि-जागि रे।"
'तुलसी' बिलोकि अकुलानी जातुधानी कहैं,
"बार-बार कह्यो पिय कपि सो न लागि रे!" ॥२॥
"पानी पानी पानी" सब रानी अकुलानी कहैं,
जाति हैं परानी, गति जाति गजचालि है।
बसन बिसारैं, मनि-भूषन सँभारत न,
आनन सुखाने कहैं "क्योहूँ कोउ पालि है?"
'तुलसी' मँदोवै मीजि हाथ, धुनि माथ कहै,
"काहू कान किये न मैं कह्यो केतो कालि है।"
बापुरो बिभीषन पुकारि बार-बार कह्यो,
"बानर बड़ी बलाइ बने घर घालि है" ॥३॥

[1] राक्षस। [2] पूँछ। [3] खेलवाड़ी। [4] तुरही बाजा। [5] पूँछ।

लागि-लागि आगि, भागि, चले जहाँ-तहाँ
धीय को न माय, बाप पूत न सँभारही।
छूटे बार, बसन उघारे, धूम-धुंध[1] अन्ध,
कहैं बारे बूढ़े 'बारि-बारि' बार-बार ही॥
हय हिहिनात, भागो जात, घहरात गज,
भारी भीर ठेलि पेलि रौंदि-खौंद डारही।
नाम लै चिलात, बिललात, अकुलात अति,
"तात-तात! तौंसियत, झौंसियत झारही" ॥४॥
लपट कराल ज्वाल जालामाल दहूँ दिसि,
धूम अकुलाने पहिचानै कौन काहि रे?
पानी को ललात, बिललात, जरे गात जात,
परे पाइमाल[2] जात, भ्रात! तू निबाहि रे॥
प्रिय तू पराहि, नाथ-नाथ! तू पराहि, बाप,
बाप! तू पराहि, पूत-पूत! तू पराहि रे।
"तुलसी" बिलोकि लोग व्याकुल बिहाल कहैं,
लेहि दससीस अब बीस चख चाहि रे॥५॥

(३) हनुमान की युद्ध वीरता

रोप्यो रावन बोलाए बीर बानइत[3],
जानत जे रीति सब सँजुग-समाज की।
चली चतुरंग चमू[4], चपरि हने निसान,
सेना सराहन जोग रातिचर राज[5] की॥
'तुलसी' बिलोकि कपि-भालु किलकत,
ललकत लखि ज्यों कंगाल पातरी सुनाज की।
राम-रुख निरखि हरषे हिय हनुमान,
मानो खेलवार खोलि सीसताज बाज की॥१॥

---

[1] धुएँ का धुँधलापन। [2] नाश। [3] बाण चलानेवाले। [4] सेना। [5] रावण।

तीखे तुरंग सुरंगनि साजि चढ़े छटि छैल छबीले।
भारी गुमान जिन्हें मन मे, कबहूँ न भए रन में तन ढीले।
'तुलसी' गज से लखि केहरि लौ झपटे-पटके सब सूर सकीले।
भूमि परे भट धूमि कराहत, हाँकि हने हनुमंत हठीले ॥२॥

हाथिन सो हाथी मारे घोरे घोरे सो सँहारे;
रथनि सो रथ बिदरनि, बलवान की।
चंचल चपेट चोट चरन चकोट चाहैं,
हहरानी फौजे भहरानी[1] जातुधान[2] की।
बार-बार सेवक-सराहना करत राम,
'तुलसी' सराहै रीति साहेब सुजान की।
लाँबी लूम लसत लपेटि पटकत भट,
देखौ-देखौ, लखन! लरनि हनुमान की ॥३॥

दबकि दबोरे[3] एक, बारिधि मे बोरे एक,
मगन मही में एक गगन उड़ात हैं।
पकरि पछारे कर, चरन उखारे एक,
चीरि फारि डारे, एक मीजि मारे लात हैं।
'तुलसी लखत राम-रावन, बिबुध[4], बिधि[5],
चक्रपानि[6], चंडिपति[7], चंडिका[8] सिहात हैं।
बड़े-बड़े बानइत बीर बलवान बड़े,
जातुधान जूथन निपाते[9] बातजात[10] है।
जातुधानावली मत्त कुंजर घटा,
निरखि मृगराज जनु गिरि ते टूट्यो।

[1] मुँह के बल पर गिर पड़ी। [2] राक्षस। [3] दबोच लिया। [4] देवता। [5] ब्रह्मा। [6] विष्णु भगवान। [7] महादेव। [8] कालिका। [9] मार डाले। [10] हनुमान।

बिकट चटकन चपट, चरन गहि पटकि महि,
निघटि[1] गए सुभट, सत सबको छूट्यो।
'दास तुलसी' परत धरनि, धरकत झुकत,
हाट सी उठति जंबुकनि[2] लूट्यो।
धीर रघुबीर को बीर रन-बाँकुरो,
हाँकि हनुमान कुलि कटक कूट्यो ॥४॥
ओझरी[3] की झोरी काँधे, आँतनि की सेल्ही[4] बाँधे,
मूड़ के कमण्डलु, खपर किये कोरि कै।
जोगिनि झुटुंग झुंड-झुंड बनी तापस सी,
तीर-तीर बैठीं सो समर-सरि खोरि[5] कै ॥५॥
सोनित[6] सो सानि-सानि गूदा खात सतुआ-से,
प्रेत एक पियत बहोरि घोरि-घोरि कै।
'तुलसी' बैताल भूत साथ लिये भूतनाथ[7],
हेरि-हेरि हँसत है हाथ-हाथ जोरि कै ॥६॥

[1] कम हो गये। [2] स्यारों ने। [3] आशय। [4] साफ़ा, पगड़ी। [5] स्नान करके। [6] खून। [7] महादेव।

३ मीराँबाई

मीराँबाई का जन्म सं० १५७३ में चौकड़ी नामक ग्राम में हुआ। यह मेड़तिया के राठौर रत्नसिंह की पुत्री थीं। इनका विवाह चित्तौर के राना साँगा के पुत्र भोजराज के साथ हुआ था। यह बचपन ही से कृष्ण-भक्ति में लीन रहा करती थीं। विवाह के कुछ वर्षों के बाद यह विधवा हो गईं। यह प्रायः मंदिरों में जाकर सन्तो के बीच श्रीकृष्ण की मूर्ति के सामने गातीं और नाचतीं थीं। इनके इस व्यवहार से राजकुल के लोग इनसे रुष्ट रहा करते थे। कहा जाता है कि इन्हें मार डालने के विचार से इन्हें विष तक दिया गया, पर भगवत् कृपा से यह बच गईं।

मीराँ की उपासना माधुर्य भाव की थी। यह अपने इष्टदेव को पति-रूप में मानती थीं। इनकी उपासना में रहस्य का समावेश है। मीराँ की गणना भारत के उच्चकोटि के प्रधान भक्तों में है। इनकी रचना गेय पदों में है, जिनमें आन्तरिक भावों की बड़ी ऊँची व्यजना मिलती है। इनके पदों में प्रेम की तल्लीनता पाई जाती है। ईश्वर-वियोग-जनित वेदना इनका मुख्य विषय है। इनकी रचना राजस्थानी मिश्रित व्रजभाषा में है। इनके रचित चार ग्रन्थ हैं रामगोविंद, रागसोरठ, गीतगोविंद-टीका और नरसीजी का मायरा। मीराँ की मृत्यु सं० १६०३ में द्वारकाजी में हुई।

पदावली

बसो मोरे नैनन में नँदलाल।
मोहिनी मूरत साँवरी सूरत, नैना बने बिसाल।
अधर[1] सुधारस मुरली राजति, उर वैजन्ती[2] माल॥
छुद्र घंटिका[3] कटि तट सोभित, नूपुर सबद रसाल[4]॥

[1] होंठ। [2] वैजयन्ती पुष्प। [3] करधनी। [4] मधुर।

'मीरा' प्रभु संतन सुखदाई, भगत-बछल[1] गोपाल ॥१॥

मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई ।
जाके सिर मोर मुकुट मेरो पति सोई ॥
छाँड़ि दई कुल की कानि[2] कहा करिहै कोई ।
सन्तन ढिग बैठि-बैठि लोक लाज खोई ॥
अँसुवन जल सींचि-सींचि प्रेम बेलि बोई ।
अब तो बेलि फैलि गई आनँद फल होई ॥
भगति देखि राजि[3] हुई जगत देखि रोई ।
दासी 'मीरा' लाल गिरधर तारो अब मोई[4] ॥२॥

मैं गोबिंद के गुन गाना ।
राजा रूठ नगरी राखै, हरि रूठ्याँ कहँ जाना ।
राना भेजा जहर पियाला, अमरित[5] कर पी जाना ॥
डिबिया मे भेज्या जु भुजंगम, सालिगराम करि जाना ।
'मीरा' अब प्रेम दिवानी[6], साँवलिया बर पाना । ३॥

करम गति टारे नाहिं टरै ।
सतवादी हरिचंद से राजा, सो तो नीच घर नीर भरै ।
पाँच पांडु अरु सती द्रौपदी, हाड़ हिमालय गरे ॥
जग्य कियो बलि लेन इन्द्रासन, सो पाताल धरे ।
'मीरा' के प्रभु गिरधर नागर, विष से अमरित करे ॥४॥

मन रे परसि हरि के चरन ।
सुभग सीतल कमल कोमल, त्रिविध[7] ज्वाला हरन ।
जे चरन प्रहलाद परसे, इन्द्र पदवी धरन ॥
जिन चरन ध्रुव अटल कीन्हो, राखि अपने सरन ।

[1] भक्तों पर वात्सल्य (स्नेह) करने वाले । [2] लाज, मर्यादा । [3] प्रसन्न हुई । [4] मुझे । [5] अमृत । [6] पगली । [7] दैहिक, आधिदैविक और आदिभौतिक ये तीन प्रकार के ताप कहे गये हैं ।

जिन चरन ब्रह्माण्ड भेट्यो, नखसिखौ श्री भरन ॥
जिन चरन प्रभु परिस लीने, तरी गौतम घरन[1] ।
जिन चरन कालीहि नाथ्यो, गोपलीला करन ॥
जिन चरन धार्‌यो गोबर्धन, गरब मघवा[2] हरन ।
दासि 'मीरा' लाल गिरिधर, अगम तारन तरन ॥५॥

राम नाम रस पीजे मनुआँ[3], राम नाम रस पीजे ।
तज कुसङ्ग सतसंग बैठि नित, हरि चरचा सुनि लीजे ॥
काम क्रोध मद लोभ मोह कूँ, चित से दूर करीजे ।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, ताहि के रंग में भीजे ॥६॥

घुघरू बाँध मीरा नाची रे, पग घुघरू ।
लोग कहैं मीरा होगई बावरी, सास कहै कुलनासी रे । पग०
जहर का प्याला राना जी ने भेजा, पीवत मीरा हाँसी रे । पग०
मैं तो अपने नारायण की, हो गई आपहि दासी रे । पग०
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, वेग मिलो अबिनासी[4] रे । पग०

पग घुघरू बाँध मीरा नाची रे, पग घुघरू ॥७॥

ऐसी लगन लगाए कहाँ तू जासी[5] ।
तुम देख्याँ बिन कल न परत है, तलफि-तलफि[6] जिव जासी ।
तेरे खातिर जोगण[7] हूँगी, करवत लूँगी कासी ।
'मीरा' के प्रभु गिरिधर नागर, चरण कँवल की दासी ॥८॥

[1]पत्नी, गृहिणी । [2] इन्द्र । [3] मन । [4] अनन्त ब्रह्म । [5] जा रहे हो । [6] तड़पकर । [7] सन्यासिनी ।

४ नरोत्तम दास

यह जिला सीतापुर के वाड़ी नामक कसबे के रहने वाले थे। इनके जन्मकाल का ठीक-ठीक प्रामाणिक पता तो नहीं है, परन्तु शिवसिंह-सरोज में इनका सं० १६०२ में वर्तमान रहना बताया गया है। मिश्रबंधुओं का अनुमान है कि ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ 'सुदामा चरित' ब्रजभाषा का सुन्दर काव्य है। इसकी भाषा परिमार्जित और व्यवस्थित है यह चरित्र आदर्श-प्रधान काव्य है। इसकी रचना नाटकीय शैली पर कथोपकथन से युक्त है। कवि ने सुदामा के घर की दरिद्रता का बड़ा सुन्दर वर्णन किया है। एक दरिद्र होते हुए भी सुदामा का आत्माभिमान तथा द्वारकाधीश होते हुए श्रीकृष्ण का सुदामा जैसे दरिद्र मित्र के साथ सम्मैत्री का वर्ताव हमारे सामने प्राचीन भारतीय गौरव का आदर्श उपस्थित करता है। 'सुदामा-चरित' के अतिरिक्त इनकी और कोई रचना उपलब्ध नहीं है। जान पड़ता है कि यह असमय में ही काल-कवलित हो गये थे।

"सुदामा-चरित"

दोहा बिप्र सुदामा बसत हो[1], सदा आपने धाम।
भिच्छा करि भोजन करै, हिये जपै हरिनाम ॥१॥
ताकि घरनी पतिव्रता, गहै बेद की रीति।
सलज सुसील सुबुद्धि अति, पति सेवा सो प्रीति ॥२॥
कह्यौ सुदामा एक दिन, कृस्न हमारे मित्र।
करत रहत उपदेस तिय, ऐसो परम-विचित्र ॥३॥
स्त्री महादानि जिनके हितू, जदु-कुल-कैरव-चन्द[2]।
ते दारिदि-सन्ताप ते, रहैं न किमि निरद्वंद[3] ॥४॥

[1] था। [2] यदुवंश रूपी कुमुद के चन्द्रमा। [3] निश्चिन्त।

कह्यौ सुदामा बाम ! सुनु, वृथा और सब भोग।
सत्य-भजन भगवान् को, धर्म सहित जप जोग ॥५॥

कवित्त

स्त्री लोचन-कमल दुःख-मोचन तिलक भाल,
स्रवननि कुंडल मुकुट धरे माथ हैं।
ओढ़े पीत वसन गरे में वैजयंती माल,
संख चक्र गदा और पद्म लिये हाथ हैं।
कहत 'नरोत्तम' सँदीपन गुरू[1] के पास,
तुम ही कहत हम पढ़े एक साथ हैं।
द्वारिका के गये हरि दारिद हरैंगे पिय,
द्वारिका के नाथ वे अनाथन के नाथ हैं ॥६॥

सवैया

सु० सिच्छक हौ सिगरे जग को तिय! ताको कहा अब देति हौ सिच्छा।
जे तप के परलोक सुधारत सम्पति की तिनके नहिं इच्छा॥
मेरे हिये हरि के पद-पंकज, बार हजार लै देखु परिच्छा।
औरन को धन चाहिये बावरि बाँमन को धन केवल भिच्छा ॥७॥
स्त्री दानी बड़े तिहूँ लोकन में जग जीवत नाम सदा जिनको लै।
दीनन की सुधि लेत भली बिधि, सिद्ध करो पिय मेरो मतो लै॥
दीनदयाल के द्वार न जात सो, और के द्वार पै दीन ह्वै बोलै।
श्रीजदुनाथ से जाके हितू, सो तिहूँ पन क्यों कन माँगत डोलै ॥८॥
सु० छत्रिय के पन जुद्ध जुवा, दल साजि चढ़ैं गज बाजि नहीं।
वैस को बानिज और कृषी, पन सूद्र को सेवन साज नहीं॥
बिप्रन को पन है जु यही, सुख सम्पत्ति से कछु काज नहीं।
कै पढ़िबो कै तपोधन है, कन माँगत बांमनै लाज नहीं ॥९॥

[1] उज्जयिनी के आचार्य ऋषि स्यान्दीपनि कृष्ण और सुदामा के गुरू थे।

स्त्री	कोदोसवाँ जुरतो भरि पेट, न चाहति हौ दधि दूध मठौती।
सीत व्यतीत भई सिसियात ही, हौं हठती पै तुम्हें न हठौती॥
जौ जनती न हितू हरि सो, तौ मैं काहे को द्वारिका ठेलि पठौती।
या घर तें न गयो कबहूँ पिय! टूटौ तवा अरु फूटी कठौती॥१०॥

सु०	छाँड़ि सबै जक तोहि लगी बक आठहु जाम[१] यहै मनठानी।
जातहि दैहैं लदाय लढ़ा[२] भरि लैहौ लदाय यहै जिय जानी।
पैये कहाँ ते अटारी अटा, जिनको विधि दीनी है टूटी-सी छानी।
जो पे दरिद्र लिखो है ललाट तो काहू पै मेटि न जात अजानी॥११॥

स्त्री	पूरन पैज करी प्रहलाद की, खंभ सो बाँध्यो पिता जिहि बेरे[३]।
द्रौपदी ध्यान धरो जबही, तबहीं पट-कोट लगे चहुँ फेरे॥
ग्राह तें छूटी गजेन्द्र गयो पिय! है हरि कौनि हियै जिय मेरे।
ऐसे दरिद्र हजार हरै, व कृपानिधि लोचन-कोर के हेरे॥१२॥

सु०	चक्कवे[४] चौंकि रहे चकि-से, तहाँ भूले-से भूप अनेक गनाऊँ।
देव गधर्व औ किन्नर जच्छ के, साँझ लौ देखे खरे जिहि ठाऊँ॥
तैं दरबार बिलोक्यो नही, अब तोहि कहा कहि कै समुझाऊँ।
रोकिए लोकन के मुखिया, तहँ हौं दुखिया किमि पैठन पाऊँ॥१३॥

स्त्री	भूले से भूप अनेक खरे रहे, ठाढ़े थके तिमि चक्कवै भारी।
देव गधर्व औ किन्नर जच्छ से, रोके जे लोकन के अधिकारी॥
अन्तरयामी वै आपुही जानिहैं, मानो यही सिख आजु हमारी।
द्वारिकानाथ कै द्वार गए, सबते पहिले सुधि लैहै तुम्हारी॥१४॥

सु०	दीनदयाल को ऐसोइ द्वार है, दीनन की सुधि लेत सदाई।
द्रौपदी ते, गज ते, प्रहलाद ते, जानि परी न बिलंब लगाई॥
याही तें भावत मो-मन दीनता, जौ निबहै निबही जस आई।
जो ब्रजराज सो प्रीति नहीं, केहि काज सुरेसहु की ठकुराई[५]॥१५॥

[१] याम, पहर। [२] छकड़ा गाड़ी। [३] समय, बेला। [४] चक्रवर्ती राजा। [५] प्रभुत्व।

कवित्त

स्त्री फाटे-पट टूटी छानि खायो भीख माँगि आनि,
बिना जग्य बिमुख रहत देव पित्रई।
वे है दीनबंधु दुखी देखिकै दयालु ह्वै है,
दै हैं कछु भलो सो हो जानत अगत्रई[1]॥
द्वारिका लौं जात पिय! केतौ अलसात तुम,
काहे को लजात भई कौन-सी विचित्रई।
जो पै सब जनम ही दारिद सतायो तो पै,
कौन काज आई है कृपानिधि की मित्रई॥१६॥
सुदामा, तैं तो कही नीकी सुनि बात हित ही की,
यही रीति मितई[2] की नित प्रीति सरसाइए।
मित्र के मिले ते चित्त चाहिये परसपर
मित्र के जो जेइए तो आपहु जेंवाइए।
वे हैं महाराज जोरि बैठत समाज भूप,
तहाँ यहि रूप जाइ कहा सकुचाइए।
सुख-दुख करि दिन काटे ही बनैंगे,
भूलि बिपति परे पै द्वार मित्र के न जाइए॥१७॥
स्त्री बिप्र के भगत हरि जगत बिदित बंधु,
लेत सब ही की सुधि ऐसे महादानि है।
पढ़े एक चटसार[3] कही तुम कैयो बार,
लोचन अपार वै तुम्हें न पहिचानिहैं॥
एक दीनबंधु, कृपासिंधु, फेरि गुरुबंधु,
तुम-सम कौन दीन जाको जिय जानिहैं।
नाम लेत चौगुनी, गए तें द्वार सौगुनी सो,
देखत सहसगुनी प्रीति प्रभु मानि हैं॥१८॥

[1] पहले ही से। [2] मित्रता। [3] पाठशाला।

सवैया

सु० —प्रीति मे चूक न है उनके हरि मों मिलिहैं उठि कंठ लगायकै।
द्वार गये कछु देहैं भलो हमें, द्वारकानाथ जू हैं सब लायकै ॥
या विधि बीत गये पन द्वै, अब तो पहुँचो बिरधापन आयकै।
जीवन केतो है जाके लिये, हरि सों अब होहिं कनावड़ो[1] जायकै ॥१९॥
स्त्री —हूजै कनावड़ो बार हजार लौं, जो हितू दीनदयाल सों पाइए।
तीनहुँ लोक के ठाकुर हैं तिनके दरबार न जात लजाइए॥
मेरी कही जिय मैं धरिकै पिय!, और न भूल प्रसंग चलाइए।
और के द्वार सो काज कहा, पिय! द्वारकानाथ के द्वार सिधाइए ॥२०॥
सु० द्वारिका जाहु जू द्वारिका जाहु जू, आठहु जाम यहै झक तेरे।
जो न कहो करिए तो बड़ो दुख, जैये कहाँ अपनी गति हेरे॥
द्वार खरे प्रभु के छरिया[2] तहँ भूपति जान न पावत नेरे।
पान सुपारी तै देखु विचारि कै, भेंट को चारि न चाउर मेरे ॥२१॥
दोहा यह सुनि कै तब बाँभनी, गई परोसिनि पास।

पाव-सेर[3] चाउर लिए, आई सहित हुलास ॥२२॥
सिद्धि करी[4] गनपति सुमिरि, बाँध दुपटिया-खूट।
माँगत खात चले तहाँ, मारग वाली बूट ॥२३॥
तीन दिवस चलि बिप्र के, दूखि उठे जब पाँय।
एक ठौर सोए कहूँ, घास-पयार बिछाय ॥२४॥
अतरजामी आपु हरि, जानि भगत की पीर।
सोवत लै ठाढ़ो, कियो, नदी गोमती तीर ॥२५॥
प्रात गोमती-दरस ते अति प्रसन्न भो चित्त।
बिप्र तहाँ असनान करि, कीन्हो नित्त निमित्त ॥२६॥
भाल तिलक घसिकै दियो, गही सुमिरिनी हाथ।
देखि दिव्य द्वारावती, भयो अनाथ सनाथ ॥२७॥

---

[1]आभारी। [2]संतरी, पहरेदार । [3]एक पाव। [4] प्रस्थान किया।

कवित्त

दीठि चकचौंधि गई देखत सुबर्नमई,
एक ते सरस एक द्वारिका के भौन है।
पूछे बिन कोऊ कहूँ काहू सों न करै बात,
देवता-से बैठे सब साधि-साधि मौन है॥
देखत सुदामै धाय पौरजन गहे पाय,
"कृपा करि कहौ विप्र कहाँ कीन्हो गौन है।"
"धीरज अधीर के, हरन पर-पीर के,
बताओ बलबीर के महल यहाँ कौन हैं" ॥२८॥

दोहा

दीन जानि काहू पुरुष, करि गहि लीन्हो आय।
दीनहि द्वार खरो कियो दीनदयाल के जाय॥२९॥
द्वारपाल द्विज जानिकै, कीन्हो दंड-प्रनाम।
"विप्र! कृपा करि भाखिये, सकुल आपनो नाम॥३०॥
सुदामा नाम सुदामा कृस्न हम, पढ़े एक ही साथ।
कुल पाँडे, ब्रजराज सुनि, सकल जानिहैं गाथ॥३१॥
द्वारपाल चलि तहँ गयो, जहाँ कृस्न-जदुराय।
हाथ जोरि ठाढ़ो भयो, बोल्यो सीस नवाय॥३२॥

सवैया

द्वारपाल-सीस पगा[1] न झगा[2] तनमें, प्रभु! जानैको आहि बसैकेहिग्रामा।
धोती फटी-सी लटी[3] दुपटी, अरु पाँय उपानहुँ की नहिं सामा॥
द्वार खरो द्विज दुर्बल देखि, रहो चकि सो बसुधा अभिरामा।
पूछत दीनदयाल को धाम, बतावत आपनो नाम सुदामा॥३३॥

[1] पगड़ी। [2] कुरता। [3] मैली।

कवित्त

बोल्यो द्वारपालक 'सुदामा नाम पाँड़े' सुनि,
छाँड़ि राज काज ऐसे जी की गति जानै को ?
द्वारिका के नाथ हाथ जोरि धाय गहे पाँय,
भेंटे लपटाय करि ऐसे दुख सानै को ?
नैन-दोऊ जल भरि पूँछत कुसल हरि.
विप्र बोल्यो "विपदा मे मोहि पहिचानै को ?
जैसी तुम कीन्ही तैसी करै को कृपा के सिन्धु,
ऐसी प्रीति दीनबन्धु ! दीनन सो मानै को ?॥३४॥

दोहा

भेंटि भली विधि विप्र सो, कर गहि त्रिभुवनराय ।
अंतःपुर को लै गए, जहाँ न दूसर जाय ॥३५॥
मनिमंडित[1] चौकी कनक, ता ऊपर बैठाय ।
पानी धर्यो परात मे, पग धोवन को लाय ॥३६॥
जिनके चरनन को सलिल, हरत जगत संताप ।
पाँय सुदामा विप्र के, धोवत ते हरि आप ॥३७॥

सवैया

ऐसे बेहाल बेवाइन[2] सो पग, कंटक जाल लगे पुनि जोए ।
"हाय ! महादुख पायो सखा ! तुम आये इतै न किते दिन खोए" ॥
देखि सुदामा की दीन दसा, करुना करिके करुनानिधि रोए ।
पानी परात को हाथ छुयो नहिं नैनन के जल सो पग धोए ॥३८॥

दोहा

श्रीकृष्ण कछु भाभी हमको दियो, सो तुम काहे न देत ।
चाँपि पोटरी काँखि मे, रहे कहो केहि हेत ॥३९॥

[1]रत्न जटित । [2]पैर में फटनेवाले दर्रे ।

खोलत सकुचत गाँठरी, चितवत हरि की ओर।
जीरन पट फटि छुटि परे, बिखरि गयो तेहि ठौर॥४०॥
एक मुठी हरि भरि लई, लीनी मुख मैं डारि।
चबत चबाउ[1] करन लगे, चतुरानन त्रिपुरारि॥४१॥

सवैया

काँपि उठी कमला मन सोचत, मोसों कहा हरि को मन औको[2]?
रिद्धि कँपी सब सिद्धि[3] कँपी, नव निद्धि[4] कँपी बम्हना यह धौंको॥
सोच भयो सुरनायक के जब दूसरी बार लियो भरि झौंको।
मेरु डर्यो "बकसै जनि मोहिं" कुबेर चबावत चाउर चौंको॥४२॥
भौन भरे पकवान मिठाइन, लोग कहैं निधि है सुषमा के।
साँझ सवेरे पिता अभिलाषत, दाख न चाखत सिंधु रमा के॥
बाँभन एक कोऊ दुखिया सेर-पावक चाउर लायो समा[5] के।
प्रीति की रीति कहा कहिये, तेहि बैठि चबात हैं कंत रमा के॥४३॥

दोहा

मुठी दूसरी भरत ही, रुकुमिनि पकरी बाँह।
ऐसी तुम्हे कहा भई, संपति की अनचाह॥४४॥
कही रुकुमिनि कान मे, यह धौं कौन मिलाप।
करत सुदामा आप सो, होत सुदामा आप॥४५॥

सवैया

हाथ गह्यो प्रभु को कमला कहै नाथ कहा तुमनै चित धारी।
तंदुल खाय मुठी दुइ, दीन कियो तुमने दुइ लोक बिहारी॥

[1]चर्वण। [2]सिद्धियाँ आठ प्रकार की हैं,। [3]यथा अणिमा, महिमा, लघिमा; गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशत्व और वशित्व। [4] निधियाँ नौ प्रकार की हैं, यथा पद्म, महापद्म, कच्छप, नील, मकर, मुकुंद शंख, खर्व, नन्द। [5] साँवा का चावल।

खाई मुठी तिसरी अब नाथ ! कहाँ निज वाम की आस विचारी ।
रकहि आप समान कियो तुम, चाहत आपहि होन भिखारी ॥४७॥

दोहा

सात दिवस यहि विधि रहे, दिन-दिन आदर-भाव ।
चित्त चलो घर चलन को, ताकर सुनो बनाव ॥४७॥
वस्त्रादिक बहु भाँति के, पहिराए सुखदाय ।
करि प्रनाम कर जोरि , कै बोले त्रिभुवनराय ॥४८॥

सवैया

श्रीकृष्ण-धन्य कहा कहिए द्विज जू तुम सो जग कौन उदार प्रवीनो ।
पाछिली प्रीति निवाही भली विधि, दोष निवारिकै रोष न कीनो ॥
हौं द्विज के चरनोदक हेतु, अजन्म कहाय कै जन्म स लीनो ।
आवन कै निज पावन[1]सी यहाँ मो सो अपावन पावन[2]कीनो ॥४९॥

दोहा

देनो हुतो सो दै चुके, बिप्र न जानी गाथ ।
चलती बेर गोपाल जू, कछू न दीन्हो हाथ ॥५०॥
सु०(स्व०)-वह पुलकनि वह उठि मिलनि, वह आदर की भाँति ।
यह पठवनि गोपाल की, कछू न जानी जाति ॥५१॥
घर-घर कर ओड़त[3] फिरे, तनक दही के काज ।
कहा भयो जो अब भयो, हरि को राज-समाज ॥५२॥
हौं आवत नाहीं हुतो, बामहि पठयो ठेलि ।
अब कहिहौं समुझाइ कै, बहुधन धरौ सकेलि[4] ॥५३॥
बालापन के मित्र है, कहा देउँ मैं साप ।
जैसो हरि हमको दियो, तैसो पइहैं आप ॥५४॥

[1]पैरों से । [2]पवित्र । [3]फैलते, पसारते । [4]इकट्ठा करके ।

इमि सोचत-सोचत झखत, आयो निज पुर तीर।
दीठि परी इकबार ही, हय गयद की भीर ॥५५॥
हरि-दरसन तें दूरि दुख, भयो गयो निज देस।
गौतम-रिषि को नाउँ लै, कीन्हो नगर-प्रवेश ॥५६॥

सवैया

वैसई राज समाज वेई, गज बाजि बने मन संभ्रम छायो।
"कैधो पर्यो कहुँ मारग भूलिकै, कै अबफेरी हौं द्वारकै आयो" ॥
भौन विलोकिबे को मग लोचन सोचत हीं सब गाँव मझायो।
पूछि मे पाँडे कथा सब सो फिर झोपरि को कहुँ सोधु न पायो ॥५७॥

कवित्त

सु० (स्व०)—जगर-मगर[1] जोति छाय रही चहुँओर,
अगर-बगर[2] हाथी-घोरन को सोर है।
चौपर को बनो है बजार पुनि सोनेन के,
महल दुकान की कतार चहूँ ओर है ॥
भीर-भार धकापेल चहूँ-दिसि देखियत,
द्वारिका ते दूनो यहाँ प्यादन को जोर है।
रहिवे को ठाम है न, काहू सो पिछान मेरी,
बिन जाने बसे कोउ हाड़ मेरे तोर हैं ॥५८॥
फूटी एक थारी बिन टोटनी की झारी हुती,
बाँस की पिटारी औ कथारी[3] हुती टाट की।
बेटे बिन छुरी औ कमडलु सौ टूक वहो,
फटे हुते पावौ पाटी टूटी एक खाट की ॥
पथरौटा, काठ को कठौता कहूँ दीसै नाहि,
पीतर को लोटो हो, कटोरो हो न बाटको[4]।

[1] जगमग, चमक। [2] इधर-उधर, दायें-बायें। [3] गूदड़, कथरी।
[4] बटुआ।

कामरी फटी-सी हुती डोड़न की माला[1]ताकि,
गोमती की माटी की न सुधि कहूँ माटको ॥५९॥
चौतरा उजारि कोऊ चामीकर[2]धाम कियो,
छानी तौ उपारी डारी छाई चित्रसारी जू।
जो है होतो घर पै काहे को उठन देतो,
होनहार ऐसी, खोटी दसाई हमारी जू।
हौ तो हो न, काहू लोभ लाहू को दिखाय वाहि,
महल उठाय लायो हाथ! सुखागारी जू।
लाभीलूस वारी दुःख भूख की दलनहारी,
गैया बनवारी[3] काहू सोऊ मारि डारी जू ॥६०॥

दोहा

कनक-दंड कर मे लिए, द्वारपाल हैं द्वार।
जाय दिखायो सबनि तै या है महल तुम्हार ॥६१॥
कही सुदामा हँसत हौ, ह्वै करि परम प्रवीन।
कुटी दिखावहु मोहि वह, जहाँ बाँभनी दीन ॥६२॥
द्वारपाल सो तिन कही, कहि पठवहु यह गाथ।
आए बिप्र महाबली, देखहु होहु सनाथ ॥६३॥
सुनत चली आनन्दयुत, सब सखियन लै संग।
नूपुर किंकिन दुंदुभी, मनहु काम चतुरंग ॥६४॥
कही बाँभनी आयकै, यहै कंत निज गेह।
श्री जदुपति तिहुँ लोक मे, कीन्हो प्रगट सनेह ॥६५॥
सुदामा हमै कंत तुम जनि कहौ, बोलौ बचन सँभारि।
इहै कुटी मेरी हती, दीन बापुरी नारि ॥६६॥
स्त्री मै तो नारि तिहारियै, सुधि सभारिए कंत।
प्रभुता सुन्दरता दई, अद्भुत श्री भगवंत ॥६७॥

[1] कंठमाला। [2] सोना। [3] वन में चरनेवाली।

कवित्त

सुदामा टूटी सी मड़ैया मेरी परी हुती यही ठौर,
तामें परो दुःख काटौं कहाँ हेम-धाम[1] री ।
जेवर जराऊ तुम साजे प्रति अंग-अंग,
सखी सोहैं सङ्ग वह छूछी हुती छाम[2] री ।
तुम तौ पटंबर[3] री ! ओढ़े हौ किनारीदारी,
सारी जरतारी[4], वह ओढ़े कारी कामरी ।
मेरी वा पंडाइन तिहारी अनुसार ही पै,
बिपता-सताई वह पाई कहाँ पामरी[5] ॥६८॥

दोहा

समुझायो निज कंत को; मुदित गई लै गेह ।
अन्हवायो तुरतहिं उबटि, सुचि सुगंध सो देह ॥६९॥
पूज्यो अधिक सनेह सों, सिंहासन बैठाय ।
सुचि सुगंध अंबर रचे, कर-भूषन पहिराय ॥७०॥
उठे पहिरि अंबर रुचिर, सिंहासन पर आय ।
बैठे प्रभुता देखि कै, सुरपदि रह्यो लजाय ॥७१॥

सवैया

कै वह टूटी-सी छानी हुती, कहँ कञ्चन के सब धाम सुहावत ।
कै पग में पनही न हुती, कहँ लै गजराजहु ठाढ़े महावत ॥
भूमि कठोरे पै रात कटै, कहँ कोमल सेज पै नींद न आवत ।
कै जुरतो नहीं कोदो सवाँ, प्रभु के परताप तें दाख न भावत ॥७२॥

[1] सोने का महल । [2] दुबली । [3] रेशमी वस्त्र । [4] जरी तार की । [5] बेचारी ।

दोहा

धन्य धन्य जदुवंश मनि, दीनन पै अनुकूल ।
धन्य सुदामा सहित तिय, कहि बरपहिं सुर फूल ॥७३॥
विप्र सुदामा सहित तिय, उमगे परमानन्द ।
नित-प्रति सुमिरन करत हैं, हिय-धरि करुनाकंद ॥७४॥

५ गंग

गङ्ग कवि बड़े प्रतिभाशाली और बादशाह अकबर के दरबारी कवि थे। इनका जन्म संवत् १६१० के आसपास का अनुमान किया जाता है। यह स्वभाव के बड़े ही अक्खड़ और निर्भीक थे। यह किसी नवाब या राजा की आज्ञा से हाथी से चिरवा डाले गये थे। यह अपने समय के प्रधान कवि थे। इनके एक ही छप्पय पर अब्दुर्रहीम खानखाना ने इन्हें ३६ लाख रुपया दे डाले थे।

मालती सवैया

तारा की जोत में चन्द्र छिपे नहिं, सूर छिपे नहिं बादर छाए।
रन्न[1] चढ़े रजपूत छिपे नहिं, दाता छिपे नहिं माँगन आए॥
चञ्चल नारी को नैन छिपे नहिं, प्रीति छिपे नहिं पीठ दिखाए।
'गंग' कहै सुनु शाह अकब्बर, कर्म छिपे न भभूत लगाए॥१॥

कवित्त

कहे ते न समझे न समझाए समझे,
सुकवि लोग कहै ताहि मानत असार सी।
काक को कपूर जैसे मरकट को भूषण ज्यों,
ब्राह्मण को मक्का जैसे मीर को बनारसी[2]॥
बहिरे के आगे तान गाये तो सवाद जैसे,
हिजड़े[3] के आगे नारि लागत अँगार सी।
कहैं कवि 'गंग' मन माहिं तो विचार देखो,
मूढ़ आगे विद्या जैसे अन्धे आगे आरसी[4]॥२॥

[1] रण, युद्ध। [2] वाराणसी, काशी। [3] नपुंसक। [4] दर्पण।

छप्पय

बुरो प्रीति को पंथ, बुरो जंगल को बासो।
बुरो नारि को नेह, बुरो मूरख सो हासो॥
बुरो सूम को सेव, बुरो भगिनी घर भाई।
बुरी कुलच्छन नारि, सास घर बुरो जमाई[१]॥
बुरो पेट पंपाल[२] है, बुरो युद्ध से भागनो।
'गङ्ग' कहै अकबर सुनो, सब से बुरो है माँगनो॥३॥

कवित्त

प्रबल प्रचंड बली बैरम के खानखाना,
तेरी धाक दीपन दिसान दह दहकी।
कहै कवि 'गङ्ग' तहाँ भारी सूर बीरन के,
उमड़ि अखंड दल प्रलै पौन लहकी॥
मच्यो घमसान तहाँ तोप तीर बान चलै,
मंडि बलवान किरपान कोपि गहकी।
तुंड काटि मुंड काटि जोसन[३] जिरह[४] काटि,
नीमा[५] जामा जीन काटि जिमि आनि ठहकी॥४॥
झुकत कृपान मयदान ज्यों उदोत भान,
एकन तें एक मनो सुखमा जरद की।
कहै कवि 'गङ्ग' तेरे बल की बयारि लागे,
फूटी गज घटा घन घटा ज्यों सरद की॥
एते मान सोनित की नदियाँ उमड़ि चलीं,
रही न निसान कहूँ मही में गरद की।
गौरी गह्यो गिरिपति गनपति गह्यो गौरी,
गौरीपति गह्यो पूंछ लपकि बरद की॥५॥

१ दामाद। २ पापी। ३ कवच। ४ लोहे का बख्तर। ५ छोटा जामा।

फूट गये हीरा की विकानी कनी हाट-हाट,
काहू घाट मोल, काहू बाढ़ मोल को लयो।
टूट गई लंका फूट मिल्यो जो विभीषण है,
रावन समेत बंस आसमान को गयो॥
कहैं कवि 'गङ्ग' दुरजोधन से छत्रधारी,
तनक में फूटे ते गुमान वाको नै गयो।
फूटे तें नरद[1] उठि जात बाजी चौसर को,
आपुस के फूटे कहु कौन को भलो भयो॥६॥

आवत हौं चले शिव शैल ते गिरीश जाँचे,
मिल्यो हुतो मोहि जहाँ सागर सगर को।
कृविन की रसना की पालकी पै चढ़ो जात,
संग सोहै रावरो प्रताप तेज बर को॥
कवि 'गंग' पूछी तुम को हौ कित जैहौ, उन
कह्यो मोसो हँसि कै सनेसो ऐसो स्थान को।
जस मेरो नाम मेरो दसो दिसि काम, मेरो।
कहियो प्रनाम हौं गुलाम बीरबर को॥७॥

[1] चौसर की गोट।

६ अब्दुर्रहीम खानखाना

यह बादशाह अकबर के अभिभावक मुगल सरदार बैरम खाँ खान-खाना के पुत्र थे। इनका जन्म सं० १६१० में हुआ था। यह संस्कृत, अरबी, और फारसी के पूर्ण पण्डित थे। भाषा पर इनका बड़ा अधिकार था। इनके दोहों में तुलसी की मार्मिकता और भावुकता टपकती है। इन्हें संसार का बड़ा गहरा अनुभव था। यह बड़े ही उदार हृदय, दानी और वीर थे। एक बार इन्होंने गंग कवि को उनकी काव्य-रचना पर मुग्ध होकर ३६ लाख रुपये दे दिये थे। अंत समय में यह विरक्त होकर वृन्दावन चले गए थे और वहाँ साधु-वेष में रहकर कीर्तन-भजन किया करते थे। इनकी मृत्यु सं० १६८३ में हुई।

रहिमन-रहस्य

दोहा

अच्युत[1]-चरण तरंगिणी, शिवसिर-मालति-माल।
हरि न बनायो सुरसरी, कीजो इन्दव-भाल[2] ॥१॥
अनुचित उचित 'रहीम' लघु, करहिं बड़ेन के जोर।
ज्यों ससि के संयोग ते, पचवत आगि चकोर ॥२॥
उरग[3], तुरग, नारी, नृपति, नीच जाति, हथियार।
'रहिमन' इन्हे सँभारिए, पलटत लगै न बार ॥३॥
ये 'रहीम' दर-दर फिरहिं, माँगि मधुकरी खाहिं।
यारो यारी छोड़िए, वे रहीम अब नाहिं ॥४॥
कदली, सीप, भुजंग-मुख, स्वाति एक गुन तीन।
जैसी संगति बैठिए, ते सोई फल दीन ॥५॥
कहि 'रहीम' इक दीपतें, प्रगट सबै दुति होय।
तन-सनेह कैसे दुरै, दृग-दीपक जरु दोय ॥६॥

[1] विष्णु भगवान। [2] महादेव। [3] साँप।

कहु 'रहीम' केतिक रही, केतिक गई बिहाय ।
माया ममता-मोह परि, अन्त चले पछिताय ॥७॥
काज परै कछु और है, काज सरै कछु और ।
'रहिमन' भँवरी के भए, नदी सिरावत मौर ॥८॥
खैर, खून, खाँसी, खुसी, बैर, प्रीति, मदपान ।
'रहिमन' दाबे ना दबैं, जानत सकल जहान ॥९॥
गरज आपनी आप सों, 'रहिमन' कहा न जाय ।
जैसे कुल की कुलवधू, पर-घर जात लजाय ॥१०॥
चारा प्यारा जगत में, छाला[1] हितकर लेय ।
ज्यों 'रहीम' आटा लगे, त्यों मृदग स्वर देय ॥११॥
जहाँ गाँठ तहँ रस नहीं, यह 'रहीम' जग जोय ।
मड़ए तर की गाँठ मे, गाँठ-गाँठ रस होय ॥१२॥
जाल परे जल जात बहि, तजि मीनन को मोहं ।
'रहिमन' मछरी नीर को, तऊ न छाड़त छोह ॥१३॥
जे गरीब पर हित करें, ते 'रहीम' बड़ लोग ।
कहाँ सुदामा बापुरो, कृष्ण मिताई जोग ॥१४॥
जो पुरुपारथ ते कहूँ, सम्पति मिलत 'रहीम' ।
पेट लागि बैराट[2] घर, तपत रसोईं भीम ॥१५॥
जो 'रहीम, उत्तम प्रकृति, का करि सकत कुसंग ।
चन्दन विष व्यापत नहीं, लपटे रहत भुजंग ॥१६॥
जो रहीम' करिबो हुतो ब्रज को इहै हवाल ।
तौ काहे कर पर धर्यो, गोबर्धन गोपाल ॥१७॥
जो 'रहीम' गति दीप की, कुल कपूत गति सोय ।
बारे उजिआरे लगे, बढ़े[4] अँधेरो होय ॥१८॥

[1] दाग । [2] राजा विराट् । [3] जलाने पर, छोटी अवस्था मे ।
[4] बुझने पर, बड़ा होने पर ।

जो 'रहीम' गति दीप की, सुत सपूत की सोय।
बड़ो उजेरो तेहि रहे, गए अँधेरो होय ॥१९॥
जो 'रहीम' दीपक दसा, तिय राखत पट-ओट।
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट ॥२०॥

जो विषया संतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत वमन कर, स्वान स्वाद से खात ॥२१॥
टूटे सुजन मनाइये, जौ टूटे सौ बार।
'रहिमन' फिरि-फिरि पोहिए, टूटे मुक्ताहार ॥२२॥

धन थोरो इज्जत बड़ी, कहि 'रहीम' का बात।
जैसे कुल की कुलबधू, चिथड़न माँहि समात ॥२३॥
नात नेह दूरी भली, लो 'रहीम' जिय मानि।
निकट निरादर होत है, ज्यों गड़ही को पानि ॥२४॥

पावस देखि 'रहीम' मन, कोइल साधे मौन।
अब दादुर[1] वक्ता भए, हमकों पूछत कौन ॥२५॥
प्रीतम छबि नैनन बसी, पर छबि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, पथिक आपु फिरि जाय ॥२६॥

भलो भयो घर ते छुट्यो, हँस्यो सीस परि खेत।
काके काके नवत हम, अपन पेट के हेत ॥२७॥
माँगे घटत 'रहीम' पद, कितो करो बढ़ि काम।
तीनै पग बसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥२८॥

मुकता कर, करपूर कर, चातक जीवन जोय।
ये तो बड़ो 'रहीम' जल, ब्याल[2]-बदन विष होय ॥२९॥
यह न 'रहीम' सराहिए, लेन-देन की प्रीत।
प्रानन बाजी राखिए, हारि होय कै जीत ॥३०॥

[1] मेढक। [2] सर्प।

जो 'रहीम' गति दीप की, सुत सपूत की सोय।
बड़ो उजेरो तेहि रहे, गए अँधेरो होय ॥१६॥

जो 'रहीम' दीपक दसा, तिय राखत पट-ओट।
समय परे ते होत है, वाही पट की चोट ॥२०॥

जो विषया सतन तजी, मूढ़ ताहि लपटात।
ज्यों नर डारत वमन कर, स्वान स्वाद से खात ॥२१॥

टूटे सुजन मनाइये, जौ टूटे सौ बार।
'रहिमन' फिरि-फिरि पोहिए, टूटे मुक्ताहार ॥२२॥

धन थोरो इज्जत बड़ी, कहि 'रहीम' का बात।
जैसे कुल की कुलवधू, चिथड़न माँह समात ॥२३॥

नात नेह दूरी भली, लो 'रहीम' जिय मानि।
निकट निरादर होत है, ज्यों गड़ही को पानि ॥२४॥

पावस देखि 'रहीम' मन, कोइल साधे मौन।
अब दादुर[1] वक्ता भए, हमकों पूछत कौन ॥२५॥

प्रीतम छवि नैनन बसी, पर छवि कहाँ समाय।
भरी सराय 'रहीम' लखि, पथिक आपु फिरि जाय ॥२६॥

भलो भयो घर ते छुट्यो, हँस्यो सीस परि खेत।
काके काके नवत हम, अपन पेट के हेत ॥२७॥

माँगे घटत 'रहीम' पद, कितो करो बढ़ि काम।
तीनै पग वसुधा करी, तऊ बावनै नाम ॥२८॥

मुकता कर, करपूर कर, चातक जीवन जोय।
ये तो बड़ो 'रहीम' जल, ब्याल[2]-बदन विष होय ॥२९॥

यह न 'रहीम' सराहिए, लेन-देन की प्रीत।
प्रानन बाजी राखिए, हारि होय कै जीत ॥३०॥

[1] मेढक। [2] सर्प।

यह 'रहीम' निज सङ्ग लै, जनमत जगत न कोय ।
बैर, प्रीत, अभ्यास, जस, होत-होत ही होय ॥३१॥
रन, बन, व्याधि, विपत्ति में, 'रहिमन' मरे न रोय ।
जो रच्छक जननी जठर[1], सो हरि गए कि सोय ॥३२॥
'रहिमन' अपने पेट सों, बहुत कह्यो समुझाय ।
जो तू अन खाए रहे, तोसों को अनखाय[2] ॥३३॥
'रहिमन' कठिन चितान ते, चिता को चित लेत ।
चिता दहति निर्जीव को, चिता जीव समेत ॥३४॥

[1] गर्भ । [2] चिढ़े ।

'सेनापति' नैकु दुपहरी के ढरत' होत,
    धमका[1] विषम, ज्यौं न पात खरकत है।
मेरे जान पौनौ सीरी ठौर कौं पकरि कौनौ,
    घरी एक बैठि कहूँ घामै बितवत है॥५॥
'सेनापति' ऊँचे दिनकर के चलति लुवैं,
    नद नदी कुवैं कोपि डारत सुखाइ कै।
चलत पवन, मुरझात उपवन बन,
    लाग्यो है तवन, डार्यौ भूतलौ तचाइ कै॥
भीषम तपत रितु ग्रीषम सकुचि तातैं,
    सीरक छिपी है तहखानन मै जाइ कै।
मानौं सीत काल, सीत लता के जमाइवे कौ,
    राखे हैं विरंचि बीज धरा मै धराइ कै॥६॥

वर्षा

दामिनी दमक सोई मन्द विहसनि, बग-
    माल है बिसाल सोई मोतिन कौ हारौ है।
बरन - बरन घन रञ्जित बसन तन,
    गरज गरूर सोई बाजत नगारौ है॥
'सेनापति' सावन कौं बरसा नवल बधू,
    मानौं है बरति साजि सकल सिगारौ है।
त्रिविधि बरन पर्यो इन्द्र कौ धनुष, लाल,
    पन्ना सौं जटित मानौं हेम खगवारौ है॥७॥
'सेनापति' उनए नए जलद सावन के,
    चीर हू दिसान घुमरत भरे तोइ कै।
सोभा सरसाने, न बखाने जात काहू भाँति,
    आने हैं पहार मानौं काजर के ढोइ कै॥

[1] सन्नाटा, हवा के बन्द हो जाने पर जो सन्नाटा-छा जाता है।

घन सौं गगन छप्यो, तिमिर सघन भयौ,
देखि न परत मानौं रवि गये खोइ कै।
चारि मास स्याम निसा के भरम करि,
मेरे जानि याही तैं रहत हरि सोइ कै॥८॥

शरद

पाउस निकास तातैं पायो अवकास, भयो
जोन्ह[1] कौ प्रकास सोभा ससि रमनीय कौं।
बिमल अकास होत बारिज बिकास,
'सेनापति' फूले कास हित हंसन के हीय कौं॥
छिति न गरद, मानौं रंगे हैं हरद सालि,
सोहत जरद को मिलावैं हरि पीय कौं।
मत्त हैं दुरद मिट्यौ खञ्जन परद, हितु
आई है सरद सुखदाई सब जीय कौं॥९॥
कातिक की राति थोरी-थोरी सियराति,
'सेनापति' है सहाति सुखी जीवन के गन हैं।
फूले हैं कुमुद, फूली मालती सघन बन,
फूलि रहे तारे मानौं मोती अनगन हैं॥
उदित बिमल चन्द, चाँदनी छिटकि रही,
राम कैसो जस अध उरध गगन है।
तिमिर हरन भयौ, सेत है बरन सब,
मानहु जगत छीर-सागर मगन है॥१०॥
बरन्यौ कबिन कलाधर कौं कलंक, तैसो
को सकै बरनि, कवि हू की मति छीनी है।
'सेनापति' बरनी अपूरब जुगति ताहि,
कोबिद बिचारौ कौन भाँति बुद्धि दीनी है॥

[1] चाँदनी, ज्योत्स्ना।

मेरे जान जेतिक सौं सोभा होत जानी राखि,
तेतिकै कलान रजनी की छवि कीनी है।
बढ़ती के राखे, रैनि हूँ तैं दिन ह्वै है यातैं
आगरी मयंक तैं कला निकासि लीनी है ॥११॥
सरसी निरमल नीर पुनि, चद चाँदिनी पीन[१]।
वन बरसै आकास अरु अवनी रज है लीन ॥
अब नीरज है लीन, विमल तारागन सोभा।
राजहंस पुन लीन, सकल हिमकर की जो भा[२] ॥
इत सरवर उत गगन दुहूँ समता है परसी।
'सेनापति' रितु सरद, अंग अंगन छबि सरसी ॥१२॥

हेमत और शिशिर

सीत कौं प्रबल 'सेनापति' कोपि चढ्यो दल,
निबल अनल गयौ सूर सियराइ कै।
हिम के समीर, तेई बरसै विषम तीर,
रही है गरम भौन कोनन मैं जाइ कै ॥
धूम नैन बहैं, लोग आगि पर गिरे रहैं,
हिये सौं लगाई रहैं नैंकु सुलगाइ कै।
मानौ भीत जानि, महासीत तैं पसारि पानि,
छतियाँ की छाँह राख्यौ पाउक छिपाइ कै ॥१३॥
सिसिर मैं ससि कौ सरूप पावै सविताऊ[३]
घाम हू मैं चाँदनी की दुति दमकति है।
'सेनापति होत सीतलता है सहस गुनी,
रजनी की झाँई वासर मैं झमकति है ॥
चाहत चकोर, सूर ओर दृगछोर करि,
चकवा की छाती तजि धीर धसकति है।

[१] पुष्ट, सम्पन्न, पूर्ण। [२] प्रकाश। [३] सूर्य भी।

चंद के भरम होत मोद है कमोदिनी कों,
 ससि सक पंकजनि फूलि न सकति है ॥१४॥
सिसिर तुषार[1] के बुखार से उखारत है,
 पूस बीते होत सून हाथ पाइ ठिरि कै ।
द्यौस कौ छुटाई की बड़ाई बरनी न जाई,
 'सेनापति' पाई कछू सोचि कै सुमिरि कै ।
सीत तैं सहस-कर[2], सहत चरन ह्वै, कै
 ऐसे जात भाजि तम आवत है घिरि कै ।
जौं लौं कोक कोकी कौ मिलत तौ लौं होति राति,
 कोक अधबीच ही तैं आवत है फिरि कै ॥१५॥
धायौ हिमदल, हित भूधर तैं 'सेनापति'
 अंग-अंग जग, थिर जंगम[3] ठिरत है ।
पैयै न बताई भाजि गई है तताई,
 सीत आयौ आततताई[4] छिति अम्बर घिरत है ॥
करत है ज्यारी भेष धरि कै उज्यारी ही कौ,
 घाम बार-बार बैरी बैर सुमिरत है ।
उत्तर तैं भाजि सूर ससि कौ सरूप करि,
 दच्छिन की छोर छिन आधक फिरत है ॥१६॥
आयौ जोर जड़कालौ, परत प्रबल पालौ,
 लोगन कौ लालौं परयौ जियैं कित जाइ कै ।
ताप्यौ चाहैं बारि कर, तिन न सकत टारि,
 मानौ हैं पराए, ऐसे भये ठिठराई कै ॥
चित्र कैसौ लिख्यौ, तेजहीन दिनकर भयौ,
 अति सियराइ गयौ घाम पतराइ कै ।
'सेनापति' मेरे जान सीत के सताए सूर,
 राखे हैं सकोरि[5] कर अंबर छपाइ कै ॥१७॥

[1] पाला । [2] सूर्य । [3] चलने वाले । [4] दुष्ट । [5] सिकोड़कर ।

८ बिहारीलाल

कविवर बिहारीलाल का जन्म सं० १६६० के लगभग ग्वालियर के समीप बसुवा गोविन्दपुर में हुआ था। ये मथुरिया चौबे थे। जयपुर के महाराजा मिर्जा जयसिंह के राजकवि थे। इनके रचे हुए दोहों का संग्रह 'बिहारी-सतसई' के नाम से प्रसिद्ध है। कहा जाता है कि इन्हें अपने रचित प्रत्येक दोहे के पुरस्कार में महाराजा की ओर से एक-एक अशर्फी मिलती थी। बिहारी सतसई की लोकप्रियता इसी से समझनी चाहिए कि अब तक इस पर बीसियों टीकाएँ बन चुकी हैं, और बनती ही जाती हैं।

बिहारी के दोहे शुद्ध ब्रजभाषा में लिखे गए हैं। इनके दोहों की यह बड़ी विशेषता है कि थोड़े ही में अर्थ और भाव गाम्भीर्य से ओतप्रोत होते हैं। बिहारी के कुछ दोहे नीति और भक्ति-पक्ष के भी हैं, परन्तु इनकी ख्याति शृंगारात्मक दोहों के कारण हुई है शृङ्गार की विविध दशाओं का जो शब्द-चित्र बिहारी ने खींचा है वह बहुत स्वाभाविक और मर्मस्पर्शी है। बिहारी शृङ्गार-रस के प्रतिनिधि कवि थे। कहीं-कहीं नायिकाओं के वियोग की तीव्रता दिखलाने में उनकी रचना ऊहात्मक हो गई है।

बिहारी—विहार

दोहा

मेरी भव-बाधा हरौ, राधा नागरि सोइ।
जा तन की झाँई परैं, स्याम हरित-दुति होइ ॥१॥
नीकी दई अनाकनी, फीकी परी गुहारि।
तज्यौ मनो तारन-बिरद, बारक बारनु[1] तारि ॥२॥

[1] हाथी, गजेन्द्र मोक्ष की ओर संकेत है।

जम-करि मुँह-तरहरि पर्यो, इहि धरहरि चित लाउ।
विषय-तृषा परिहरि अजौं, नरहरि के गुन गाउ ॥३॥
दीरघ साँस न लेहि दुख, सुख साँईंहिं न भूलि।
दई-दई क्यौं करतु है, दई-दई सु कबूलि ॥४॥
कब कौ टेरतु दीन-रट, होत न स्याम सहाइ।
तुमहूँ लागी जगत-गुरु, जग-नाइक, जगबाइ[1] ॥५॥
मकराकृति गोपाल कै, सोहत कुंडल कान।
धर्‌यौ मनौ हिय-धर समरु[2], ड्योढ़ी लसत निसान ॥६॥
या अनुरागी चित की, गति समुझै नहिं कोइ।
ज्यौं-ज्यौं बूड़ै स्याम रंग, त्यौं-त्यौं उज्वलु होइ ॥७॥
तजि तीरथ, हरि-राधिका, तन-दुति करि अनुरागु।
जिहिं ब्रज-केलि निकुंज-मग, पग-पग होतु प्रयागु ॥८॥
कीजै चित सोई तरे, जिहिं पतितनु के साथ।
मेरे गुन-औगुन-गननु, गनौ न गोपीनाथ ॥९॥
हरि कीजति बिनती यहै, तुम सौं बार हजार।
जिहिं तिहिं भाँति डर्‌यो रह्यौ, पर्‌यो रहौ दरबार ॥१०॥
मैं तपाइ त्रयताप सौं, राख्यो हियौ हमामु[3]।
मति[4] कबहुँक आए इहाँ, पुलकि पसीजै स्यामु ॥११॥
सीस-मुकुट, कटि काछनी, कर-मुरली उर-माल।
इहिं बानक मो मन सदा, बसौ बिहारीलाल ॥१२॥
यह बिरिया नहिं और की, तू करिया[5] वह सोधि।
पाहन-नाव चढ़ाइ जिहिं, कीन्हे पार पयोधि ॥१३॥
मोर-मुकुट की चंद्रिकनु, यौं राजत नँदनन्द।
मनु ससिसेखर की अकस[6], किय सेखर सत चन्द ॥१४॥

[1] संसार की हवा। [2] (स्मर) कामदेव। [3] स्नानागार। [4] चाहे तो। [5] कर्णधार। [6] खार, चिढ़।

लोपे कोपे इन्द्र लौं, रोपे प्रलय अकाल ।
गिरिधारी राखे सबै, गो - गोपी - गोपाल ॥१५॥
अपनैं - अपनैं मत लगे, बादि मचावत सोरु ।
ज्यौं - त्यौं सबको सेइबो, एकै नन्द किसोरु ॥१६॥
तौ बलियै, भलियै बनी, नागर नन्द किसोर ।
जौ तुम नीकै कै लख्यौ, मो करनी की ओर ॥१७॥

बन्धु भए का दीन के, को तार्‌यो रघुराइ ।
तूठे - तूठे फिरत हो, झूठे बिरद कहाइ ॥१८॥
दियौ, सु सीस चढ़ाइ लै, आछी भाँति अएरि ।
जापैं सुखु चाहत लियौ, ताके दुखहिं न फेरि ॥१९॥
कोऊ कोरिक संग्रहौ, कोऊ लाख हजार ।
मो संपति जदुपति सदा, बिपति बिदारनहार ॥२०॥

घर घर डोलत दीन ह्वै, जन - जन जाँचत जाइ ।
दियै लोभ-चसमा चखनु, लघु पुनि बड़ौ लखाइ ॥२१॥
मोहन-मूरति स्याम की, अति अद्भुत गति जोइ ।
बसतु सु चित-अंतर तऊ, प्रतिबिंबितु जग होइ ॥२२॥
गिरि तैं, ऊँचे रसिक-मन, बूड़े जहाँ हजार ।
वहे सदा पसु नरनु कौं, प्रेम- पयोधि पगार[1] ॥२३॥
जिन दिन देखे वे कुसुम, गई सु बीति बहार ।
अब अलि रही गुलाब मे, अपत कँटीली डार ॥२४॥
स्वारथु, सुकृतु न, श्रम मृथा, देखि बिहङ्ग बिचारि ।
बाज पराए पानि परि, तूं पच्छीनु न मारि ॥२५॥
नए बिससियहि लखि नए, दुरजन दुसह-सुभाइ ।
आँटै[2] परि प्राननु हरत, काँटैं लौं लगि पाइ ॥२६॥

[1] पैर से पार करनेवाली नदी । [2] अँकड़ी, छोटी कंकड़ी ।

नर की अरु नल-नीर की, गति एकै करि जोइ।
जेतौ नीचौ ह्वै चलै, तेतौ ऊँचौ होइ॥२७॥

भजन कह्यो तातैं भज्यो, भज्यौ न एकौ बार।
दूर भजन जातैं कह्यो, सो तैं भज्यौ गँवार॥२८॥

बसै बुराई जासु तन, ताही कौ सनमानु।
भलौ-भलौ कहि छाँड़ियै, खोटै ग्रह-जपु-दानु॥२९॥

कहै यहै श्रुति सुमृति औ, यहै सयाने लोग।
तीन दबावत निसक ही, पातक, राजा, रोग॥३०॥

जो सिर धरि महिमा मही, लहियत राजा राइ।
प्रकटत जड़ता अपनि पै, सुमुकुट पहिरत पाइ॥३१॥

दिन दस आदर पाइकै, करिलै आपु बखानु।
जो लगि काग! सराधुपख[1], तौ लगि तव सनमानु॥३२॥

मरतु प्यास पिंजरा पर्यो, सुआ समै कैं फेर।
आदर दै-दै बोलियतु, बाइस[2] बलि का बेर॥३३॥

[1] श्राद्ध पक्ष, पितृपक्ष। [2] कौवा।

८ भूषण

तिकवाँपुर (जि०-कानपुर) के रहने वाले कान्यकुब्ज ब्राह्मण रत्नाकर त्रिपाठी के चार पुत्र चिंतामणि, भूषण, मतिराम और नीलकंठ (जटाशंकर) थे। इनमें प्रथम तीन यशस्वी कवि हो गए हैं। भूषण का जन्म सं० १६७० में हुआ था। इनके असली नाम का पता अब तक निश्चित रूप से नहीं लगा है। चित्रकूट के राजा हृदयराम सोलंकी के पुत्र रुद्रराम सोलंकी ने इन्हें कवि भूषण की पदवी दी थी, वही पदवी नामरूप से प्रसिद्ध हो गई। यों तो भूषण कई राजाओं के आश्रय में रहे, परन्तु इनका सबसे अधिक सम्मान छत्रपति शिवाजी ने किया। बुन्देलखण्ड के वीर छत्रसाल ने भी भूषण का बहुत सम्मान किया था।

भूषण ने शिवाजी और छत्रसाल के विषय में जो प्रशस्तियाँ लिखी हैं उनसे इनमें चाटुकारिता नहीं प्रत्युत समस्त हिन्दू जाति के प्रतिनिधित्व की झलक पाई जाती है। शिवाजी और छत्रसाल के विषय में काव्योचित अत्युक्तिपूर्ण प्रशंसा करने पर भी भूषण ने इतिहास-विरुद्ध किसी घटना का उल्लेख नहीं किया है। भूषण वास्तव में राष्ट्रीय कवि थे।

भूषण ने 'शिवराज भूषण' में विविध अलंकारों द्वारा शिवाजी की वीरता सम्बन्धी विविध घटनाओं का वर्णन किया है। इसके अतिरिक्त इनके रचे 'छत्रसालदशक', भूषण उल्लास, दूषण उल्लास, भूषण हजारा आदि भी प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं। भूषण की रचना ब्रजभाषा में हुई है। इन्होंने शब्दों को कहीं-कहीं विकृत भी कर दिया है। हिन्दी साहित्य में भूषण की रचना वीररस-प्रधान और श्रेष्ठ मानी गई है। भूषण का परलोकवास सं० १७७२ में माना जाता है।

(१) शिवाजी का शौर्य

(कवित्त मनहरण)

इन्द्र जिमि जृंभ[1] पर बाड़व[2] सुअंभ[3] पर,
　　रावन सदंभ पर रघुकुल राज है।
पौन वारिवाह[4] पर, संभु रतिनाह पर,
　　ज्यौं सहसबाहु पर रामद्विजराज है॥
दावा[5] द्रुम-दन्ड पर, चीता मृग-झुंड पर,
　　'भूषण' वितुंड[6] पर जैसे मृगराज है।
तेज तम अंस पर, कान्ह जिमि कंस पर,
　　त्यौं मलेच्छ बंस पर सेर सिवराज है॥१॥

गरुड़ को दावा जैसे नाग के समूह पर,
　　दावा नाग[7] जूह पर सिंह सिरताज को।
दावा पुरहूत[8] को पहारन के कुल पर,
　　दावा सबै पच्छिन के गोल पर बाज को॥
'भूषण' अखंड नवखंड-महि-मंडल में,
　　तम पर दावा रविकिरन समाज को।
पूरब पछाँह देस दच्छिन तें उत्तर लौं,
　　जहाँ पातसाही तहाँ दावा सिवराज को॥२॥

प्रेतिनी-पिसाच[10] निसाचर-निसाचरिहू,
　　मिलि-मिलि आपुस मैं गावत वधाई है।
भैरो भूत-प्रेत भूरि भूधर-भयकर से,
　　जुत्थ-जुत्थ जोगिनी जमाति[9] जुरि आई है॥
किलकि-किलकि कै कूतूहल करति काली,
　　डिम डिम डमरू दिगम्बर बजाई है।

[1] जृम्भासुर नामक दैत्य। [2] बड़वाग्नि। [3] समुद्र। [4] बादल। [5] दावाग्नि। [6] हाथी। [7] हाथी। [8] इन्द्र। [9] समूह (फा॰ जमाअत)।

सिवा पूछै सिव सों समाज आजु कहाँ चली,
काहू पै सिवा नरेस भृकुटी चढ़ाई है ॥३॥
दर-बर[1] दौर करि नगर उजारि डारे,
कटक कटायो कोटि दुजन दरब की।
जाहिर जहान जग जालिम है जोरावर,
चलै न कछुक जोर जब्बर-जरब की ॥
सिवराज तेरे त्रास दिल्ली भयो भुवकंप,
थर-थर काँपत विलायत अरब की।
हालत दहलि जात काबुल कँधार बीर,
रोस करि काढ़ै समसेर ज्यों गरब की ॥४॥
जिन फन फुफकार उड़त पहार भारे,
कूरम कठिन जनु कमल बिदलिगो।
विषजाल ज्वालामुखी लवलीन होत जिन,
झारन चिकारि मद दिग्गज उगलिगो ॥
कीन्हों जेहि पान पयपान सो जहान कुल,
कोल्हू उछलि जलसिंधु खलभलिगो।
खग्ग खगराज महाराज सिवराज जू को,
अखिल भुजंग मुगलदल निगलिगो ॥५॥

छप्पय विजपूर[2] बिदनूर सूर, सर-धनुष न संधहिं[3]।
मङ्गल बिनु मल्लारि[4]-नारि, धम्मिल[5] नहिं बंधहिं।
गिरत गब्भ[6] कोटीन, गब्भ चिंजी-चिंजा[7] डर
चालकुंड, दलकुंड, गोलकुंडा संका उर ॥
'भूषण' प्रताप सिवराज तव, इमि दच्छिन दिसि संचरै।
मधुराधरेस धकधक धकत, द्रविड़ अविरल डरै ॥६॥

[1] सेना के बल से। [2] बीजापुर। [3] संधान करते, चढ़ाते।
[4] मालाबार। [5] जूड़ा। [6] गर्भ। [7] दक्षिण के राज्य विशेष।

कवित्त

वेद राखे विदित पुरान परसिद्ध राखे,
रामनाम राख्यो अति रसना सुघर में।
हिन्दुन की चोटी, रोटी राखी हैं सिपाहिन की,
काँधे मे जनेऊ राख्यो माला राखी गर में॥
मीड़ि राखे मुगल मरोड़ि राखे पातसाह,
बैरी पीसि राखे बरदान राख्यो कर मे।
राजन की हद्द राखी तेग-बल सिवराज,
देव राखे देवल स्वधर्म राख्यो घर मे॥७॥
राखी हिन्दुवानी हिन्दुवान का तिलक राख्यो,
अस्मृति पुरान राखे वेद-विधि सुनी मैं।
राखी रजपूती राजधानी राखी राजन की,
धरा में धरम राख्यो राख्यो गुन गुनी में॥
'भूषन' सुकवि जीति हद्द मरहट्टन की,
देस-देस कीरति बखानी तव सुनी मैं।
साहि के सपूत- सिवराज समसेर तेरी
दिल्ली दल दाबि कै दिवाल राखी दुनी में॥८॥
चकित चकत्ता[1] चौंकि-चौंकि उठै बार-बार,
दिल्ली दहसति चितै चाह खरकति है।
बलख बिलाय बिलखात बीजापुरपति,
फिरत फिरंगिन की नारी फरकति है॥
थर-थर काँपत कुतुबसाही गोलकुंडा,
हहरि हबस भूप भीर भरकति है।
सिंह सिवराज तेरे धौसा की धुकार सुनि-
केते पातसाहन की छाती छरकति है॥९॥

[1] चगताई वंशज औरंगजेब।

दुग्ग पर दुग्ग जीते सरजा शिवाजी गाजी,
उग्ग[1] पर उग्ग[2] नीचे रुन्ड मुँड फरके।
'भूषन' भनत बाजे जीति के नगारे भारे,
सारे करनाटी भूप सिंहल को सरके[3]॥
मारे सुनि सुभट पनारेवारे[4] उदभट[5],
तारे लगे फिरन सितारे गढ़धर के
बीजापुर बीरन के गोलकुंडा धीरन के,
दिल्ली उर मीरन के दाडिम[6] से दरके ॥१०॥

(२) छत्रसाल-दशक

कवित्त

चले चन्द्रबान[7] घनबान[8] औ कुहूक बान[9],
चलत कमान[10] धूम असमान छ्वै रहो।
चली जमडाढ़[11] बाढ़वारैं[12] तरवारैं जहाँ,
लोह आँच जेठ के तरनि मान वै रहो॥
ऐसे समै फौजें बिचलाई छत्रसाल सिंह,
अरि के चलाए पाँय बीररस च्वै रहो।
हय चले हाथी चले संग छोड़ि साथी चले,
ऐसी चलाचली मैं अचल हाड़ा[13] ह्वै रहो ॥१॥
दारा साहि नौरङ्ग जुरे हैं दोऊ दिल्लीदल,
एकै गये भाजि एकै गये रुँधि चाल में।

[1] आकाश। [2] शिवजी (उग्र)। [3] भाग गये। [4] परनालेवाले। [5] भयंकर, बली। [6] अनार। [7] अर्द्ध चन्द्राकार बाण। [8] बादल के समान छा जानेवाले बाण। [9] अँधेरे में चलनेवाले बाण। [10] तोप। [11] एक प्रकार की टेढ़ी तलवार। [12] तेज धारवाली। [13] बूंदी के हाड़ा-वंशीय राजा।

बाजी कर कोऊ दगाबाजी करि राखै जेहिं,
कैसहू प्रकार प्रान बचत न काल में ॥
हाथी से उतरि हाड़ा जूझो लोह-लंगर[1] दै,
एती लाज कामे जेती लाज छत्रसाल में।
तन तरवारिन मैं, मन परमेसुर में,
प्रान स्वामि कारज में, माथो हर माल में ॥२॥

निकसत म्यान तैं मयूखैं[2] प्रलैभानु कैसी,
फारैं तमतोम[3] से गयन्दन के जाल को।
लागति लपटि कंठ बैरिन के नागिन सी,
रुद्रही रिझावै दै-दै मुंडन के माल को ॥
लाल छितिपाल छत्रसाल महाबाहु बली,
कहाँ लौं बखान करौं तेरी करवाल को।
प्रतिभट कटक कटीले केते काटि-काटि,
कालिका सी किलकि कलेऊ देति काल को ॥३॥

भुज भुजंगेस की वै संगिनी भुजङ्गिनी सी,
खेदि-खेदि खाती दीह दारुन दलन के।
बखतर पाखरिन[4] बीच धँस जाति मीन,
पैरि पार जात परवाह[5] ज्यों जलन के ॥
रैयाराय चम्पति को छत्रसाल महाराज,
'भूषन' सकत को बखान यों बलन के।
[6]पच्छी पर-छीने ऐसे परे परछीने बीर,
तेरी बरछी ने बर छीने हैं खलन के ॥४॥

[1] हाथी के पैर में पहनाई जाने वाली लोहे की जंजीर। [2] किरणें। [3] अँधकार का समूह। [4] लोहे की झूल। [5] प्रवाह, धारा [6] पच्छी··· ··खलन के = तेरी बरछी ने शत्रुओं के बल का इतना नाश किया है कि वे परकटे पक्षियों की भाँति निकम्मे होकर बैठ रहे।

रैयाराय चम्पति को चढ़ो छत्रसाल सिंह,
'भूषन' भनत समसेर जो जमकैं।
भादों की घटा सी उठी गरदैं गगन घेरैं,
सेलै समसेरैं फेरैं दामिनी सी दमकैं॥
खान उमरावन के आन राजा रावन के,
सुनि-सुनि उर लागैं घन कैसी धमकैं।
बैहर[1] बगारन[2] की अरि के अगारन की,
नाँघती पगारन नगारन की धमकैं॥५॥

अत्र गहि छत्रसाल खीझ्यो खेत बेतवै के,
उतते पठानन हूँ कीन्हीं झुकि झपटैं।
हिम्मत बड़ी कै कबड़ी के खिलावारन लौं,
देत से हजारन हजार बार चपटैं॥
'भूषन' भनत काली हुलसी असीसन को,
सीसन को ईस की जमाति जोर जपटैं।
समद[3] लौं समद[4] की सेना त्यों बुन्देलन की,
सेलै समसेरैं भईं बाड़व की लपटैं॥६॥

हैवर[5] हरट्ट साजि गैवर गरट्ट[6] सम,
पैदर की ठट्ट फौज जुरि तुरकाने की।
'भूषन' भनत राय चम्पति को छत्रसाल,
रोप्यो रन ख्याल ह्वै कै ढाल हिन्दुवाने की॥

[1] बियार। [2] सीमा। [3] समुद्र। [4] अब्दुल समद, यह दिल्ली का एक सरदार था जो कि सन् १६६० ई० में बेतवा नदी के किनारे महाराज छत्रसाल से हारा था। [5] श्रेष्ठ घोड़े। [6] श्रेष्ठ हाथी। [7] समूह।

कैयक हजार एक बार बैरी मारि डारे,
रंजक[1] दगनि मानो अगिनि रिसाने की।
सैद अफगान सेन सगर सुतन लागी,
कपिल सराप लौं लगाप तोपखाने की ॥७॥

चाक-चक[2] चमू कै अचाकचक[3] चहूँ ओर,
चाकसी फिरत धाक चम्पति के लाल की ॥
'भूषन' भनत पातसाही मारि जेर कीन्ही,
काहु उमराव ना करेरी करवाल की ॥
सुनि-सुनि रीति बिरदैत के बड़प्पन की,
थप्पन[4] उथप्पन[5] की बानि छत्रसाल की।
जङ्ग जीति लेते वै ह्वै के दामदेवा भूप,
सेवा लागे करन महेवा महिपाल की ॥८॥

कीवे को समान[6] प्रभु ढूंढ़ि देख्यो आन पै,
निदान दान युद्ध मे न कोऊ ठहरात है।
पंचम[7] प्रपंच भुजदंड को बखान सुनि,
भागिवे को पच्छी लौं पठान थहरात है ॥
संका मानि सूखन अमीर दिलीवारे जब,
चम्पति के नन्द के नगारे घहरात हैं।
चहूँ ओर चकति चकत्ता[8] के दलन पर,
छत्ता[9] के प्रताप के पताके फहरात हैं ॥९॥

[1] बारूद। सैद अफगान....तोपखाने की=सैयद अफगान की सेनारूपी सगर के पुत्रों को तोप के गोले कपिल मुनि के शाप की तरह लगे। [2] पूर्ण सुरक्षित। [3] अचानक। [4] बसाना। [5] उजाड़ना। [6] सादृश्य के लिये। [7] बुन्देलों के पूर्वज। [8] चगताई वंशज औरंगजेब। [9] छत्रसाल।

राजत अखंड तेज छाजत सुजस बड़ो,
गाजत गयन्द दिग्गज हिय साल को।
जाहि के प्रताप सो मलीन आफताब[1] होत,
ताप तजि दुज्जन करत बहु ख्याल को ?
साज सजि गजतुरी[2] पैदरि कतार दीन्हें,
'भूषन' भनत ऐसो दीन प्रतिपाल को ?
और राव राजा एक मन मे न ल्याऊँ अब,
साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को ॥१०॥

१ सूर्य। २ घोड़ा।

१० देव

महाकवि देव का जन्म संवत् १७३० में इटावे में हुआ था। १६ वर्ष की अवस्था मे ही इन्होंने कविता लिखना आरम्भ किया था। यह शृङ्गार रस के उत्कृष्ट कवियों में थे। इनके रचित कुल ५२ ग्रन्थ कहे जाते हैं, जिनमें २७ ग्रन्थों का पता लग पाया है। इनकी रचना शुद्ध ब्रजभाषा में हुई है। इनकी कविता में सभी काव्य-गुण और उक्तियाँ बड़ी अनूठी पाई जाती हैं। इनकी कविता उच्च कोटि की होने पर भी अपना जटिलता और गूढ़ोक्तियों के कारण दुर्बोध-सी हो गई है और इसी से लोकप्रिय न हो सकी।

देव-दर्शक

कवित्त

सूनो कै परम पदु ऊनो[1] कै अनन्त मदु,
दूनो कै नदीस नदु इन्दिरा[2] फुरै परी।
महिमा मुनीसन की, सम्पति दिगीसन की,
ईसन की सिद्धि ब्रज-बीथी बिथुरे[3] परी।
भादों की अन्धेरी अधराति, मथुरा के पथ,
आई मनोरथ, देव देवकी दुरै परी।
पारावार पूरन, अपार परब्रह्म रासि,
जसुदा के कोरै[4] एक बारक कुरै परी ॥१॥

सवैया

पायन नूपुर मन्जु बजैं, कटि किंकिनि में धुनि की मधुराई।
साँवरे अंग लसै पट पीत, हिये हुलसै बनमाल सुहाई॥

[1] कम, न्यून, नाश। [2] लक्ष्मी। [3] बिखरी हुई। [4] गोद में।

माथे किरीट, बड़े दृग चञ्चल, मन्द हँसी मुखचन्द जुन्हाई।
जै जग-मन्दिर-दीपक सुन्दर, श्री व्रज दूलह देव-सहाई ॥२॥

कवित्त

४ हौं ही व्रज,वृन्दावन मांही में बसत सदा,
जमुना-तरंग स्याम रंग अवलीन की।
चहूं ओर सुन्दर, सघन बन देखियतु,
कुंजनि मे सुनियतु सु-गुंजनि अलान[1] की ॥
बसीबट-तट नट नागर नटत मो मे,
रास के विलास की मधुर धुनि बीन की।
भरि रही भनक, बनक ताल तानन की,
तनक-तनक तामे भनक चुरीन[2] की ॥३॥
कोऊ कहौ कुलटा कुलीन अकुलीन कहौ,
कोऊ कहौ रंकिनि, कलंकिनी कुनारी हौं।
कैसो नरलोक, परलोक बर लोकन मे,
लीन्ही मैं अलीक, लोक लोकनि ते न्यारी हौं ॥
तन जाउ, मन जाउ, देव गुरुजन जाउ,
प्रान किन जाउ टेक टरत न टारी हौं।
वृन्दावन वारी बनवारी की मुकुट वारी,
पीत पटवारी वाहि मूरति पै वारी हौं ॥४॥
जिन जान्यो वेद, तेतौ बादि कै बिदित होहु,
जिन जान्यो लोक, तेऊ लोक पै लरि मरौ।
जिन जान्यौ तप, तीनौ तपनि ते तपि-तपि,
पंचागिनि[3] साधि ते समाधिन धरि मरौ ॥

[1] भौंरों की। [2] चूड़ियाँ। [3] पाँच जगह आग जलाकर उनके बीच में बैठकर तप करना।

जिन जान्यो जोग, तेऊ जोगी जुग-जुग जियो,
जिन जानी जोति, तेउ जोति लै जरि मरी।
हौं तौ 'देव', नन्द के कुवर, तेरी चेरी भई,
मेरो उपहास क्यों न कोटिन करि मरौ ॥५॥

तेरो घर घेरे आठो जाम रहैं आठो सिद्धि,
नवो निधि तेरे बिधि लिखिये ललाट हैं।
'देव' सुख-साज महाराजनि को राज तुहीं,
सुमति सुसो ये तेरो कीरति के भाट हैं॥
तेरे ही अधीन अधिकार तीन लोक को सु
दीन भयो क्यों फिरै मलीन घाट-बाट है।
तो मे जो उठत बोलि, ताहि क्यों न मिलै डोलि,
खोलिये हिये में दिये कपट-कपाट हैं ॥६॥

सवैया

हाय दई! यहि काल के ख्याल मे, फूल-से फूलि सबै कुम्हिलाने।
या जग बीच बचे नहिं मीच पै, जे उपजे ते मही मे मिलाने॥
'देव', अदेव बली बलहीन, चले गये मोह की हौस हिलाने।
रूप, कुरूप, गुनी निगुनी, जे जहाँ उपजे ते तहाँ ही बिलाने ॥७॥

वा चकई को भयो चित चीतो, चितौति चहूँ दिसि चाव सो नाची।
ह्वै गई छीन छपाकर की छबि, जामिनजोन्ह मनो जम जाँची॥
बोलत बैरी बिहंगम, 'देव', सु बैरिन के घर सम्पति साँची।
लोहू पियो जु बियोगिनी को, सु कियो मुख लाल पिसाचिनि प्राची[1] ॥८॥

प्रेम-पयोधि परो गहिरे, अभिमान को फेन रह्यो गहि, रे मन।
कोप-तरंगनि सों बहि रे पछितात पुकारत क्यों, बहि रे मन॥
'देव', जु लाज-जहाज ते कूदि, रह्यो मुख मूँदि, अजौं रहि रे मन।
जोरत, तोरत प्रीति तुही, अब तेरी अनीति तुही सहि रे मन ॥९॥

१ पूर्व दिशा।

कवित्त

ऐसो जो हौं जानतो, कि जैहै तू विषै के सङ्ग,
एरे मन मेरे हाथ-पाँव तेरे तोरतो।
आजु लौं हौं कत नरनाहन की नाहिं सुनी,
नेह सो निहारि हारि वदन निहोरतो॥
चलन न देतो 'देव', चञ्चल अचल करि,
चाबुक-चितावनीन मारि मुंह मोरतो।
भारी प्रेम-पाथर नगारो दै गरे सों बाँधि,
राधावर-विद के बारिधि में बोरतो॥१०॥

११ रसखान

रसखान दिल्ली के शाही वंश के पठान थे। इनका असली नाम सैयद इब्राहीम था। इनका जन्म सं० १६१५ में हुआ था। युवावस्था में कुल वैष्णवों के उपदेश से इनका मन सांसारिक प्रेम से हटकर श्रीकृष्णचन्द्र के प्रति आकृष्ट हुआ। एक बार ये वेष बदल कर श्रीनाथजी के मंदिर में दर्शन करने को जा रहे थे, पौरिये ने इन्हें पहचान लिया और रोक दिया। ये तीन दिन तक भूखे-प्यासे वहीं गोविंद कुंड पर बैठे रहे। इस पर गोस्वामी विट्ठलनाथ जी को दया आई और उन्होंने इन्हें अपना शिष्य बना लिया, और इनका मूल नाम बदल कर 'रसखानि' नाम रखा। अपनी भक्ति और निष्ठा के कारण ये गोसाईंजी के प्रधान शिष्यों में हो गये। इनकी रचनाएँ शुद्ध ब्रजभाषा में कृष्ण भक्ति पर हुई हैं। 'सुजान रसखान' और 'प्रेम वाटिका' इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ उपलब्ध हैं। इनकी मृत्यु संवत् १६८५ में हुई है।

सुजान-रसखान

सवैया

मानुष हौं तौ वही 'रसखानि', बसौं ब्रज गोकुल गाँव के ग्वारन[1]।
जौ पशु हौं तौ कहा बस मेरो, चरौं नित नन्द की धेनु मँझारन॥
पाहन हौं तो वही गिरि को, जो धर्यो कर छत्र पुरंदर[2] धारन;
जो खग हौं तो बसेरो करौं मिलि, कालिंदी कूल कदंब की डारन॥१॥

या लकुटी अरु कामरिया पर, राज तिहूँ पुर को तजि डारौं।
आठहु सिद्धि नवौं निधि को सुख, नन्द की गाय चराय बिसारौं॥
'रसखानि' कबौं इन आँखिन सों, ब्रज के वन बाग तड़ाग निहारौं।
कोटिक हौं कलधौत[3] के धाम, करील के कुंजन ऊपर वारौं॥२॥

[1] ग्वालों में। [2] इन्द्र। [3] सोना।

मोरपखा सिर ऊपर राखिहौं, गुञ्ज की माल गरे पहिरौंगी।
ओढ़ि पितंबर लै लकुटी बन, गोधन ग्वारिनि सङ्ग फिरौंगी॥
भावतो वोहि मेरो 'रसखानि', सो तेरे कहे सब स्वाँग करौंगी।
या मुरली मुरलीधर की, अधरान धरी अधरा न धरौंगी॥३॥
गावैं गुनी गनिका गंधर्व, औ सारद सेस सबै गुन गावत।
नाम अनन्त गनन्त गनेस, ज्यौं ब्रह्म त्रिलोचन पार न पावत॥
जोगी जती तपसी अरु सिद्ध, निरन्तर जाहि समाधि लगावत॥
ताहि अहीर की छोहरियां, छछिया[1] भरि छाछ[2] पै नाच नचावत॥४॥
धूर भरे अति सोभित स्याम जू तैसी बनी सिर सुंदर चोटी।
खेलत खात फिरैं अँगना, पग पैंजनी बाजती पीरी कछोटी[3]॥
वा छबि को 'रसखानि' विलोकत, वारत काम कला निज कोटी।
काग के भाग बड़े सजनी, हरि हाथ सौं लै गयो माखन रोटी॥५॥
आयो हुतो नियरें 'रसखानि', कहा कहूँ तू न गई वह ठैया।
या ब्रज में सिगरी बनिता, सब वारति प्रानिनि लेत बलैया।
कोऊ न काहू की कानि करै, कछु चेटक[4] सो जु कर्यो जदुरैया।
गाइगो तान, जमाइगो नेह, रिझाइगो प्रान, चराइगो गैया॥६॥
कल कानन कुंडल मोर पखा, उर पै बनमाल बिराजति है।
मुरली कर में अधरा मुसकानि, तरङ्ग महाछबि छाजति है॥
'रसखानि' लखै तन पीतपटा, सत दामिनी की दुति लाजति है।
वह बाँसुरी की धुनि कान करे, कुलकानि हियो तजि भाजति है॥७॥
उनही के सनेहन सानी रहैं, उनही के जु नेह दिवानी रहैं।
उनही की सुनै न औ बैन, त्यों सैन सों चैन अनेकन ठानी रहैं॥
उनही सङ्ग डोलन में 'रसखानि', सबै सुख सिंधु अघानी रहैं।
उनही बिन ज्यों जलहीन है, मीन सी आँखि मेरी अँसुवानी रहैं॥८॥
सेस गनेस महेस दिनेस, सुरेसहु जाहि निरन्तर गावैं

[1] मिट्टी का बासन। [2] मट्ठा। [3] काछनी [4] जादू।

जाहि अनादि अनंत अखंड, अछेद अभेद सुभेद बतावै ॥
नारद से सुक व्यास रटै, पचि हारे तऊ पुनि पार न पावै ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भरि छाछ पै नाच नचावै ॥९॥
शंकर से सुर जाहि भजै, चतुरानन ध्यान मे धर्म बढ़ावैं ।
नेक हिये मे जो आवत ही, 'रसखानि' महाजन मूढ़ कहावै ॥
जापर सुन्दर-देव वधू नहि वारत प्रान अवार लगावैं ।
ताहि अहीर की छोहरियाँ, छछिया भर छाछ पै नाच नचावै ॥१०॥
सोहत है चँदवा सिर मौर के जैसियै सुन्दर पाग कसी है ।
तैसियै गोरज माल बिराजति, जैसी हियै बनमाल लसी है ॥
'रसखानि' बिलोकत बौरी भई, दृग मूँदि कै ग्वालि पुकार हँसी है ।
खोलि री घूँघट, खोलौ कहा, वह सूरति नैनन माँझ बसी है ॥११॥
दानी भये नये माँगत दान हौ, जानि है कंस तौ बन्धन जैहौ ।
छूटे छरा बछरादिक गोधन, जो धन है सो सबै धन दैहौ ॥
रोकत हौ बन मे 'रसखानि', चलावत हाथ घनो दुख पैहौ ।
जैहै जो भूषन काहु तिया को तो मोल छला के लला न बिकैहौ ॥१२॥

१२ पद्माकर भट्ट

पद्माकर भट्ट का जन्म जिला सागर में संवत् १८१० में हुआ। इनके पिता मोहनलाल भट्ट (तैलङ्ग ब्राह्मण) बड़े विद्वान् और कवि थे। इनके पूर्वज बाँदा निवासी थे। पद्माकरजी कुछ दिनों तक गोसाईं अनूपगिरि (हिम्मत बहादुर) के यहाँ रहे, जिनके नाम पर इन्होंने 'हिम्मत बहादुर विरदावली' नामक वीर-रसपूर्ण काव्य ग्रन्थ लिखा। संवत् १८५६ में सितारा के महाराज रघुनाथराव (राघोबा) ने इन्हें एक लाख रुपया, एक हाथी और दस गाँव दिये। तत्पश्चात ये जयपुर के महाराज प्रतापसिंह, फिर उनके पुत्र जगतसिंह के यहाँ रहे, जिनके नाम पर इन्होंने 'जगद्विनोद' की रचना की। इन्होंने अलंकार में 'पद्माभरण' तथा भक्ति और वैराग्य-पूर्ण 'प्रबोध-पचासा' नामक ग्रन्थों की भी रचना की। अपने जीवन के अन्त समय में पद्माकरजी कानपुर में गङ्गातट पर आ बसे थे। यहाँ पर आपने 'गङ्गालहरी' की रचना की। पद्माकरजी रीतिकाल के प्रसिद्ध यशस्वी कवि हो गए हैं। अस्सी वर्ष की आयु भोगकर संवत् १८९० में आपका शरीरान्त हुआ।

गंगा-गौरव

कवित्त

कूरम[1] पै कोल[2] कोल हू पै सेष-कुंडली है,
कुंडली पर फबी[3] फैल सुफन हजार की।
कहै 'पद्माकर' त्यों फन पै फबी है भूमि,
भूमि पै फबी है तिथि रजत-पहार[4] की॥
रजत-पहार पर सम्भु सुरनायक हैं,
सम्भु पर ज्योति जटाजूट है अपार की।

[1] कच्छप। [2] वाराह। [3] शोभा देती है। [4] कैलाश-पर्वत।

सम्भु-जटाजूटन पै चंद छुटी है छटा,
चन्द की छटान पै छटी है गंग-धार की ॥१॥

करम को मूल तन, तन मूल जीव जग,
जीवन को मूल अति आनँद ही धरिबो।
कहै 'पदमाकर' त्यों आनंद को मूल राज,
राज मूल केवल प्रजा को भौन भरिबो॥
प्रजा-मूल अन्न सब अन्नन को मूल मेघ,
मेघन को मूल एक जज्ञ अनुसरिबो।
जज्ञन को मूल धन, धन मूल धर्म अरु,
धर्म मूल गंगाजल-बिंदु पान करिबो॥२॥

गंगा के चरित्र लखि भाख्यौ जमराज यह,
ए रे चित्रगुप्त, मेरे हुकुम मे कान दै।
कहै 'पदमाकर' नरक सब मूँद करि,
मूँदि दरवाजेन को, तजि यह थान दै॥
देखु यह देवनदी[1] कीन्हे सब देव, या तें,
दूतन बुलाइ कै बिदा के वेगि पान दै।
फारि डारु फरद[2] न राखु रोजनामा कहूँ,
खाता खति जान दै बही को बहि जान दै॥३॥

जान्यौ जिन है न जज्ञ जोग जप जागरन,
जन्महि बितायो जग जोयन को जोइ कै।
कहै 'पदमाकर' सुदेवन की सेवन ते,
दूरि रहै पूरि मति बेदरद होइ कै॥
कुटिल कुराही कूर कलही कलंकी कलि-
काल की कथान मे रहे जे मति खोइ कै।

[1] गंगा। [2] चिट्ठा।

तेऊ विस्नु-अंगन मे बैठे सुर-संगन मे,
गंग की तरंगन मे अंगन को धोइ कै ॥४॥

जैसे तै न मोसों कहूँ नेकहू डरात हुतो,
तैसो अब तोसो हौं हू नेकहू न डरिहौं ।
कहै 'पदमाकर' प्रचंड जो परैगो तौ,
उमडि करि तोसो भुजदण्ड ठोकि लरिहौं ॥
चलो-चलु चलो-चलु विचलु न बीच ही ते,
कीच-बीच नीच तो कुटुम्ब को कचरिहौं ॥
ए रे दगादार मेरे पातक अपार तोहि,
गंगा की कछार मे पछारि छार[1] करिहौं ॥५॥

आयो जौन तेरी धौरी धारा मे धसत जात,
तिनको न सुरपुर ते निपात[2] है ।
कहै 'पदमाकर' तिहारो नाम जाके मुख,
ताके मुख अमृत को पुंज सरसात है ॥
तेरो तोय छ्वै कै औ छुवति तन जाको बात,
तिनकी चलै न जम लोकन मे बात है ।
जहाँ-जहाँ मैया, तेरी धूरि उड़ि जाति गंगा,
तहाँ-तहाँ पापिन की धूरि उड़ि जात[3] है ॥६॥

जमपुर द्वारे लगे तिन मे केवारे, कोऊ,
है न रखवारे ऐसे बन के उजारे है ।
कहै 'पदमाकर' तिहारे प्रन धारे तेउ,
करि अघ भारे सरलोक को सिधारे हैं ॥
सुजन सुखारे करे पुन्य उजियारे अति;
पतित-कतारे भवसिन्धु ते उतारे हैं ।

[1] खाक । [2] पतन । [3] नाम-निशान मिट जाता है ।

काहू ने न तारे तिन्हैं गंगा तुम तारे, और
जेते तुम तारे तेते नभ मे न तारे है ॥७॥

विधि के कमंडल की सिद्धि है प्रसिद्धि यही,
हरि-पद-पंकज-प्रताप की लहर है।
कहै 'पद्माकर' गिरीस-सीस-मंडल के
मुंडन की माल ततकाल अघहर है।
भूपति भगीरथ के रथ की सुपुन्य-पथ,
जन्हु-जप-जोग--फल फैल की फहर है।
छेम[1] की छहर[2] गंगा रावरी लहर,
कलिकाल को कहर[3] जमजाल को जहर है ॥८॥

हौ तौ पञ्चभूत[4] तजिवे को तक्यो तोहि, पर
तैं तौ कर्‌यो मोहि भलो भूतन को पति है।
कहै 'पद्माकर' सु एक तन तारिबे मे,
कीन्हे तन ग्यारह[5] कहौ सो कौन गति है॥
मेरे भाग गंगा यहै लिखी भागीरथी, तुम्हें
कहिये कछुक तौ कितेक मेरी मति है।
एक भवसूल आयो मेटिवे को तेरे कूल,
तोहि तो त्रिसूल देत बार न लगति है ॥९॥

जोग जप जागै छाँड़ि जाहु न परागै भैया,
मेरी कही आँखिन के आगे सु तौ आवैगी।
कहै 'पद्माकर' न ऐहै काम सरस्वती,
साँच हू कलिंदी कान करन न पावैगी॥

[1] कल्याण। [2] फैलनेवाली। [3] आफत। [4] पँचभूतात्मक-शरीर। [5] शिवजी के ग्यारह रूप माने गये हैं, यथा अज, एकपात, अहिर्बुध्य, अपराजित, पिनाकी, त्र्यम्बक, महेश्वर, वृषाकपि, शम्भु, हरण और ईश्वर।

लैहै छीन अंबर दिगंबर[1] कै जोरावरी
वैल पै चढ़ाई फेरि सैल पै चढ़ावैगी।
मुंडन के माल की भुजंगन के जाल की,
सु गङ्गा गजखाल की खिलत[2] पहिरावैगी॥१०॥

(२) प्रबोधाष्टक

कवित्त

देव-नर-किन्नर कितेक गुन गावत पै,
पावत न पार जा अनंत गुन पूरे को।
कहै 'पद्माकर' सु गाल के बजावत ही,
काज करि देत जन जाचक जरूरे को॥
चंद की छटान-जुत पन्नग-फटान[3] जुत,
मुकुट विराजै जटाजूटन के जूरे को।
देखौ त्रिपुरारि की उदारता अपार जहाँ,
पैये फल चार[4] फूल एक दै धतूरे को॥१॥

व्याधहू ते विहद असाधु हौ अजामिल ते,
ग्राह तै गुनाही कहौ तिनमे गनाओगे।
स्योरी हौ न सूद्र हौ न केवट कहूँ को, त्यौं न
गौतमी तिया हौ जापै पग धरि जाओगे॥
राम सो कहत 'पदमाकर' पुकारि, तुम
मेरे महापापन को पारहू न पाओगे।
सीता सी सती को तज्यो झूठोई कलंक सुनि,
साँचोई कलंकी ताहि कैसे अपनाओगे॥२॥

जोग जप संध्या साधु साधन सबैई तजे,
कीन्हे अपराध ते अगाध मन भावते।

[1] नंगा। [2] सम्मान का चोगा। [3] सर्पों के फन। [4] चारों-पदार्थ, यथा धर्म, अर्थ काम और मोक्ष।

नैन तजि औगुन अनत 'पदमाकर' तौ
कौन गुन लैकै महाराजहि रिझावते ॥
जैसे अब तैसे पै तिहारे बडे काम के हैं,
नहीं तौ न एते बैन कबहूँ सुनावते ।
पावत न भो सो जो पै अधम कहूँ तो राम,
कैसे तुम अधम-उधारन कहावते ॥३॥

सवैया

राम को नाम जपै निसि बासर, राम ही को इक आसरो भारो ॥
भूलो न भूल की भीतर मे, 'पद्माकर' चारि चितौनि को चारो ॥
ज्यों जल मे जलजात के पात, रहै जग मे त्यो जहान ते न्यारो ।
आपने सो सुख औ दुख दौरि जु, और को देखै सु देखनहारो ॥४॥
को किहि को सुत को किहि को पितु, को किहि को पति कौन की कोती[1]
कौन को को जग ठाकुर चाकर, 'पदमाकर' कौन को गोती ॥
जानकी जीवन जानि यहै, तजि दे तू सबै धन धाम औ धोती ।
हौ तो न लोटतो लोभ लपेट मे, पेट की जो पै चपेट न होती ॥५॥

कवित्त

आनँद के कद जग ज्यावत[2] जगत वृन्द,
दसरथ नद के निवाहेई निवहिये ।
कहै 'पदमाकर' पवित्र पन पालिबे को,
चारु चक्रपानि के चरित्रन को चहिये ।
अवध बिहारी के विनोदन मे बीधि-बीधि[3],
गीध गुन गीधे[4] के गुनानुवाद गहिये ।
रैन दिन आठो जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये ॥६॥

[1] स्त्री । [2] जिलाते हैं । [3] फँसकर, रमकर । [4] गृद्ध के गुणों को स्मरण रखनेवाले श्रीरामचन्द्र ।

आवत हू जाव खात खेलत खुलत गात,
छीकत छकात चुपचाप ह्वै न रहिये।
कहै 'पद्माकर' परेहू परभात, प्रेम,
पागत परात परमातमा न जहिये॥
बैठत उठत जात जागत जॅमात मुख,
सोवत हू सापने न औरे नाथ नहिये।
रैन-दिन आठौ जाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये॥७॥

सुखद सुकंठ-सखा साहिब सरन्य सुचि,
सूवे सत्यसंध के प्रवधन को गहिये।
कहै 'पद्माकर' कलेस हर कौसलेस,
कामद कवध-रिपु ही को लै उमहिये।
राजिव नयन रघुराज राजा राजाधिप,
रूप रतनाकर का राजी राखि रहिये।
रैन दिन आठोजाम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये॥८॥

१३ ठाकुर

कवि ठाकुर (बुन्देलखंडी) जाति के कायस्थ थे। इनका असली नाम लाला ठाकुरदास था। इनका जन्म संवत् १८२३ में ओरछा में हुआ था। इनका कविता-काल संवत् १८५० से १८८० तक माना जाता है। ये कई रियासतों में गए और सम्मानित हुए। इनकी रचनाओं का एक अच्छा संग्रह 'ठाकुर ठसक' नाम से स्वर्गीय लाला भगवानदीन जी ने किया है। ये प्रेम-निरूपण और लोक व्यापार में बड़े निपुण कवि थे। इनकी मृत्यु संवत् १८८० में हुई। ठाकुर नाम के एक दूसरे कवि असनी निवासी ब्रह्मभट्ट हो गये हैं, जिनका जन्म सं० १७९२ में कहा जाता है। उनकी रचनाएँ इतनी प्रसिद्ध नहीं हैं।

कवित्त

वैर प्रीति करिवे की मन मे न राखे सक,
राजाराव देखिकै न छाती धकधाकरी।
अपनी उमंग की निवाहिवे की चाह जिन्हे,
एक सो दिखात तिन्हें वाव और वाकरी॥
'ठाकुर' कहत मैं विचार कै विचार देखो,
यह मरदानन की टेक वात आकरी।
गाही जौन गहो, जौन छोड़ी तौन छोड़ दई,
करी तौन करी वात ना करी सो ना करी॥१॥

सामिल में पीर में सरीर मे न भेद राखै,
हिम्मत कपाट को उघारे तौ उघरि जाय।
ऐसे ठान ठानै तो विनाहूँ जंत्र मंत्र किये,
साँप के जहर को उतारै तौ उतरि जाय॥

'ठाकुर' कहत कछु कठिन न जानौ अब,
हिम्मत किये ते कहो का न सुधरि जाय।
चारि जने चारिहू दिसातें चारो कोन गहि,
मेरु को हिलाय कैं उखारैं तो उखरि जाय ॥२॥

जो लौं कोऊ पारखी सो होन नहिं पाई भेट,
तबही लौं तनक गरीब लौं सरीरा है।
पारखी सो भेट होत मोल बढ़े लाखन को,
गुनन के आगार सुबुद्धि के गँभीरा हैं॥
'ठाकुर' कहत नहि निन्दो गुनवारन को,
देखिबो को दीन ये सपूत सूरबीरा हैं।
ईसुर के आनस[1] ते होत ऐसे मानस[2] जे,
मानस सहूरवारे धूर भरे हीरा हैं ॥३॥

हिलमिलि लीजिये प्रवीनन तें आठो जाम,
कीजिये अराम जासो जिय को अराम है।
दीजिये दरस जाको देखिये को हौस होय,
कीजिये न काम जासो नाम बदनाम है॥
'ठाकुर' कहत यह मन मे बिचारि देखो,
जस अपजस को करैया सब राम है।
रूप के रतन पाय चातुरी से धन पाय,
नाहक गँवाइबो गँवारन को काम है ॥४॥

सुकवि सिपाही हम उन राजपूतन के,
दान युद्ध वीरता मे नेकहू न मुरके।
जस के करैया है मही के महिपालन के,
हिये के बिसुद्ध हैं सनेही साँच उर के॥
'ठाकुर' कहत हम वैरी बेवकूफन के,
जालिम दमाद हैं अदेनियाँ ससुर के।

[1] अंश। [2] मनुष्य।

चोजन के चोजी महा मौजीन के महाराज,
हम कविराज हैं पै चाकर चतुर के ॥५॥
आपने बनाइबे को और को बिगारिबे को,
सावधान ह्वै क सीखे द्रोह से हुनर है।
भूल गये करुनानिधान स्याम मेरे जान,
जिनको बनायो यह बिस्व को बितर है॥
'ठाकुर' कहत परो सबै मोह माया मध्य,
जानत या जीवन को अजर अमर है।
हाय ! इन लोगन को कौन सो उपाय, जिन्हैं,
लोक को न डर परलोक को न डर है॥६॥
ग्वारन को यार है सिंगार सुख सोसिन को,
साँचो सरदार तीन लोक रजधानी को।
गाइन के संग देख आपनो बखन लेख,
आनन्द विसेप रूप अकह कहानी को।
'ठाकुर' कहत साँचो प्रेम को प्रसंग वारो,
जा लख अनंग-रंग-दंग[1] दधिदानी को।
पुन्य नन्दजू को, अनुराग ब्रजवासिनी को,
भाग जसुमति को, सुहाग राजधानी को॥७॥

सवैया

यह प्रेम कथा कहिये किहि सों, सु कहे सो कहा कोउ मानत है।
पर ऊपरी धीर बधायो चहैं, तन राग न वा पहिचानत है॥
कहि 'ठाकुर' जाहि लगी कसकैं[2], सु ताको कसकै[3] उर आनत हैं।
बिन आपने पाय बेवाय फटे, कोउ पीर पराइ न जानत है॥८॥

[1] कामदेव का रंग फीका पड़ जाता है। [2] चोट पीड़ा। [3] पूर्ण से।

१४ दीनदयाल गिरि

इनका जन्म संवत् १८५६ में काशी के गायघाट मुहल्ले में एक ब्राह्मण कुल में हुआ था। इनके माता-पिता इन्हें पाँच वर्ष की अवस्था में महन्त कुशागिरि को सौंप कर स्वर्गवासी हो गए। महन्त कुशागिरि का एक मठ गायघाट पर भी था। ये पञ्चकोशी मार्ग मे देहली विनायक मठ और मंदिर के अधिकारी थे। इन्हीं के शिष्य और बाद में उत्तराधिकारी बाबा दीनदयाल गिरि हुए। हुए संस्कृत और हिन्दी दोनों के अच्छे विद्वान् थे। इनकी अन्योक्तियाँ हिंदी में प्रसिद्ध हैं। इनकी भाषा परिष्कृत और सुव्यवस्थित होती थी। इनका 'अन्योक्ति कल्पद्रुम' हिन्दी साहित्य में एक अनमोल रत्न है। इसमें लोक-व्यापार शिक्षा के अतिरिक्त कुछ अध्यात्म-पक्ष की भी अन्योक्तियाँ हैं। इसके अतिरिक्त इनके रचित और भी ग्रन्थ हैं अनुराग-बाग, वैराग्य-दिनेश, विश्वनाथ-नवरत्न और दृष्टान्त-तरंगिणी। इनकी सारी रचनाएँ संवत् १८७६ से १९१२ तक हुई हैं। इनका परलोकवास संवत् १९१५ में हुआ।

अन्योक्ति

जिन तरु को परिमल[1] पाइस, लियो सुजस सब ठाम।
तिन भंजन करि आपनो, कियो प्रभंजन[2] नाम॥
कियो प्रभंजन नाम, बड़ो कृतघ्न बरजोरी।
जब जब लगी दवागि[3], दियो तब झोंकि झँकोरी॥
बरनै 'दीनदयाल', सेउ अब खल थल मरु को।
ले सुख सीतल छाँह, तासु तोर्यो जिन तरु को॥१॥
कतो सोम[4] कला करो सुधा को दान।
नहीं चन्द्रमनि जो द्रवै, यह तेलिया[5] पखान॥

[1] सुगंधि। [2] आँधी। [3] वन मे लगनेवाली आग। [4] चन्द्रमा।
[5] एक प्रकार का कड़ा पत्थर।

यह तेलिया पखान, बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटी याके सीस, बीस बहु बाँकी टाँकी॥
बरनै 'दीनदयाल', चन्द तुमही चित चेतो।
कूर न कोमल होहिं, कला जो कीजै केतो॥२॥

बरखै कहा पयोद इत, मानि मोद मन माहिं।
यह तो ऊसर भूमि है, अंकुर जमिहै नाहिं॥
अंकुर जमिहैं नाहिं, बरष सत जो जल दैहै।
गरजै तरजै कहा, वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै 'दीनदयाल', न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना, बलाहक[1] ह्याँ तू बरखै॥३॥

रंभा[2] झूमत हौ कहा, थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गये, अरु ह्वै हैं यहि खेत।
अरु ह्वै हैं यहि खेत, मूल लघु साखा हीने।
ताहू पै गज रहै, दीठि तुम पै प्रति दीने॥
बरनै 'दीनदयाल', हमै लखि होत अचम्भा।
एक जनम के लागि, कहा झुकि झूमत रम्भा॥४॥

नाहीं भूलि गुलाब तू, गुनि मधुकर गुंजार।
यह बहार दिन चार की, बहुरि कटीली डार॥
बहुरि कटीली डार, होहिगी ग्रीषम आये।
लुवैं चलैंगी संग, अंग सब जैहै ताये॥
बरनै 'दीनदयाल', फूल जौ लौं तो पाहीं।
रहे घेरि चहुँ फेरि, फेरि अलि ऐहै नाहीं॥५॥

टूटे नख-रद[3] केहरी, वह बल गयो थकाय।
हाय जरा[4] अब आइकै, यह दुख दियो बढ़ाय॥

[1]बादल। [2]केले का पेड़। [3]नाखून और दाँत। [4]बुढ़ापा।

यह दुख दियो बढ़ाय, चहूँ दिसि जंबुक[1] गाजें ।
ससक[2] लोमरी आदि, स्वतन्त्र करैं सब राजें ॥
बरनै 'दीनदयाल', हरिन विहरैं सुख लूटैं ।
पंगु भयो मृगराज, आज नख-रद के टूटैं ॥६॥

पैहौ कीरति जगत में, पीछे धरो न पाँव ।
छत्री कुल के तिलक है, महा समर या ठाँव ॥
महा समर या ठाँव, चलैं सर कुन्त[3] कृपानैं ।
रहे बीर गन गाजि, पीर उर में नहिं आनैं ॥
बरनै 'दीनदयाल', हरषि जो नग चलैहौ ।
ह्वै हौ जीते जसी, मरे सुर लोकहिं पैहौ ॥७॥

भारी भार भर्यो वनिक, तरिबो सिंधु अपार ।
तरी[4] जरजरी फँसि परी, खेवन हार गँवार ॥
खेवन हार गँवार, ताहि पर पौन झकोरैं ।
रुकी भँवर में आय, उपाय चलै न करोरै ॥
बरनै 'दीनदयाल', सुमिर अब तू गिरिधारी ।
आरत जन के काज, कला जिन निज संभारी ॥८॥

कोई सङ्गी नहिं उतै, है इतही को सङ्ग ।
पथी लेहु मिलि ताहि ते, सबसों सहित उमंग ॥
सबसों सहित उमंग, बैठि तरनी के माहीं ।
नदिया नाव सँयोग, फेरि यह मिलिहै नाहीं ॥
बरनै 'दीनदयाल', पार पुनि भेंट न होई ।
अपनी अपनी गैल, पथी जैहैं सब कोई ॥९॥

राही सोवत इत किते, चोर लगे चहुँ पास ।
तो निज धन के लेन को, गिनैं नींद की स्वाँस ॥

[1] सियार । [2] खरगोश । [3] भाला । [4] नाव ।

गिनै नींद की स्वाँस, बास बसि तेरे डेरे।
लिये जात बनि मीत, माल ये साँझ सवेरे॥
बरनै 'दीनदयाल,' न चीन्हत है तू ताही।
जाग जाग रे जाग, इतै कित सोवत राही॥१०॥

१५ भारतेन्दु हरिश्चन्द्र

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र का जन्म काशी के सम्पन्न अग्रवाल वैश्य कुल में संवत् १९०७ में हुआ। इनके पिता श्रीगोपाल चन्द्र (उपनाम गिरधरदास) भी अच्छे कवि थे। बचपन ही से इनकी रुचि कविता करने की ओर थी। इन्होंने कविवचन-सुधा, हरिश्चन्द्र मैगजीन, हरिश्चन्द्र-चन्द्रिका, और बाला-बोधिनी आदि पत्र-पत्रिकाओं को जन्म दिया। काशी में बालक और बालिकाओं की शिक्षा के लिये विद्यालय भी खोले। इन्हीं का स्थापित चौखम्भा स्कूल आज हरिश्चन्द्र इंटरमीडिएट कालेज के नाम से काशी में एक प्रतिष्ठित विद्यालय है। भारतेन्दुजी ने अपने समय में हिन्दी गद्य का एक व्यवस्थित रूप स्थापित किया। अनेक नाटकों संस्कृत और बंगला से अनुवाद करके हिन्दी में प्रकाशन किया। इस प्रकार हिन्दी साहित्य के भंडार की वृद्धि करते हुए आपने बहुत कुछ साहित्य-सेवा, देश-सेवा और लोक-सेवा की है। हिन्दी प्रचार का स्तुत्य कार्य आपके ही द्वारा आरम्भ हुआ। इन्होंने कितनों ही को हिन्दी लेखक और कवि बना दिया और हिन्दी की ओर अभिरुचि उत्पन्न कर दी। इन्होंने सब मिलाकर १७५ ग्रन्थों की रचना की है। वर्तमान हिन्दी के जन्मदाता कहलाने का श्रेय भारतेन्तु जी को ही है। इनकी साहित्य-सेवा से मुग्ध होकर जनता ने इन्हें 'भारतेन्दु' की उपाधि दी। चौंतीस वर्ष की अल्पायु में ही इनका देहावसान हो गया।

प्रबोधिनी

छप्पय

जागो मङ्गल-रूप सकल ब्रज-जन-रखवारे।
जागो नन्दानन्द-करन जसुदा के बारे॥
जागो बलदेवानुज रोहिनि मात-दुलारे।
जागो श्री राधाजू के प्रानन ते प्यारे॥

जागो कीरति - लोचन - सुखद , भानु - मान - बर्द्धन - करन ।
जागो गोपी - गो - गोप प्रिय, भक्त-सुखद असरन सरन ॥१॥
होन चहत अब प्रात, चक्रवाकिनि सुख पायो ।
उड़े विहग तजि वास चिरैयन रोर मचायो ॥
नव मुकुलित उत्पल[1] पराग लै सीत सुहायो ।
मंथर[2] गति अति पवन करत पडुर[3] वन धायो ॥
कलिका उपवन विकसन लगीं, भँवर चले संचार करि ।
पूरब पच्छिम दोउ दिसि अरुन, तरुन अरुनकृत तेज धरि ॥२॥
नारद तुंवरु[4] षट विभास[5] ललितादि[6] अलापत ।
चारहु मुख सों वेद पढ़त विधि तुव जस थापत ॥
इन्द्रादिक सुर नमत जुहारत थर-थर काँपत ।
व्यासादिक रिषि हाथ जोरि तुव अस्तुति जापत ॥
जय विजय गरुड़ कपि आदिगन, खरे खरे मुजरा करत ।
शिव डमरू लै गुनगाइ तुव, प्रेम मगन आनद भरत ॥३॥
दुर्गादिक सब खरीं, कोर नैनन की जोहत ।
गङ्गादिक आचवन हेत, थट लाईं सोहत ॥
तीरथ सब तुव चरन-परस हित ठाढ़े मोहत ।
तुलसी लीने कुसुम, अनेकन माला पोहत ॥
ससि सूर पवन वन इन्दिरा, निज निज सेवा में लगत ।
अंत काल यथा उपचार में, खरे भरे सब सगबगत ॥४॥
करत काज नहिं नन्द, बिना तुव मुख अवरखे ।
दाऊ बन नहिं जात बदन सुन्दर बिनु देखे ॥
ग्वालिनि दधि नहिं बेचि सकत लालन बिनु पेखे ।
गोप न चारत गाय, लखे बिनु सुंदर भेखे ॥
भइ भीर द्वार भारी खरे, सब मुख निरखन आस करि ॥

[1]कमल । [2]मन्द । [3]पेंडकी, फाख्ता । [4] [5] [6] राग विशेष ।

बलिहार जागिये देर भइ, बन गोचारन चेत धरि ॥५॥

डूबत भारत नाथ, बेगि जागो अब जागो।
आलस दव एहि दहन हेतु चहुँ दिसि सों लागो।
महामूढ़ता वायु बढ़ावत, तेहि अनुरागो।
कृपा-दृष्टि, की वृष्टि, बुझावहु आलस त्यागो।
अपुनो अपुनायो जानि, कै करहु कृपा गिरिवर-
जागो बलि बेगहि नाथ अब, देहु दीन हिन्दुन सरन ॥६॥

प्रथम मान धन बुधि कोशल बल देइ बढ़ायो।
क्रम सों विषय-विदूषित जन करि तिनहिं घटायो॥
आलस में पुनि फाँसि परसपर बैर चढ़ायो।
ताही के मिस जवन, काल सम को पग आयो।
तिनके कर की करवाल बल, बाल-वृद्ध सब नासि कै।
अब सोवहु होय अचेत तुम, दीनन के गल फाँसि कै ॥७॥

कह गये विक्रम भोज, राम बलि कर्ण युधिष्ठिर।
चन्द्रगुप्त चाणक्य कहाँ, नासे करिकै थिर॥
कहँ छत्री सब मरे, जरे सब गये किते गिर।
कहाँ राज को तौन, साज जेहि जानत है चिर॥
कहँ दुर्ग सैन्य धन बल गयो, धूरहि धूर दिखात जग।
जागो अब तो खल-बल दलन रच्छहु अपुनो आर्य मग ॥८॥

गयो राज धन तेज, रोष बल ज्ञान नसाई।
बुद्धि बीरता श्री उछाह, सूरता बिलाई॥
आलस कायरपनो, निरुधमता अब छाई।
रही मूढ़ता बैर परस्पर कलह लराई॥
सब बिधि नासी भारत-प्रजा, कहुँ न रह्यो अवलंब अब।
जागो जागो करुनायतन, फेरि जागिहौ नाथ कब ॥६॥

सीखत कोउ न कला, उदर भरि जीवत केवल ।
पसु समान सब अन्न, खात पीवत गंगाजल ॥
धन विदेस चलि जात, तऊ जिय होत न चंचल ।
जड़ समान ह्वै रहत, अकिल हत रचि न सकत कल ॥
जीवत विदेस की वस्तु लै, ता बिन कछु नहिं कर सकत ।
जागो जागो अब साँवरे, सब कोउ रुख तुमरो तकत ॥१०॥
सब देसन की कला, सिमिटि कै इतही आवै ।
कर राजा नहिं लेइ, प्रजन पै हेत बढ़ावै ॥
गाय दूध बहु देहिं, तिनहिं कोऊ न नसावै ।
द्विज जन आस्तिक[1] होहिं, मेघ सुभ जल बरसावै ॥
तजि छुद्र वासना नर सबै, निज उछाह उन्नति करहिं ।
कहि कृष्ण राधिका-नाथ जय, हमहुँ जिय आनँद भरहिं ॥११॥

[1] ईश्वर के अस्तित्व को माननेवाले ।

परिशिष्ट

(क) नवरसालोक

रस जब कोई स्थायी भाव अपनी पूर्ण परिपक्वावस्था को प्राप्त होकर अपने आश्रय को लोकोत्तर आनन्द का अनुभव कराने में समर्थ होता है, तब वही 'रस'-रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार नव स्थायी भावों की परिपक्वावस्था मे नव रसों का निर्माण होता है। यथा रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, ग्लानि, आश्चर्य और निर्वेद इन नव स्थायी भावों से क्रमशः शृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक, वीभत्स, अद्भुत और शान्त रसों का निर्माण होता है।

विभाव- जिनके कारण (देखने, सुनने वा स्मरण करने से) हृदय स्थित स्थायी भावों की स्वभावतः जागृति हो जाती है उन्हें 'विभाव' कहते हैं, अथवा स्थायी भाव की जागृति के कारण को विभाव कहते हैं। इसके दो रूप होते हैं। आन्तरिक भावों के उत्पादक कारण-रूप वस्तु या व्यक्ति को आलम्बन-विभाव तथा उसके (आलम्बन के) किसी कार्य दृश्य वा विकार को, जिसके कारण जागरित भावों में विशेष उत्तेजना या चैतन्य होता है, उद्दीपन विभाव कहते हैं।

अनुभाव जिन क्रियाओं से रसास्वाद का बोध होता है उन्हें अनुभाव कहते हैं। इनका बोध तीन प्रकार से होता है (१) सात्विक अनायास स्वतः अंगों में आक्षेप स्फुरण आदि विकारों का हो उठना सात्विक अनुभाव है। ये सात्विक अनुभाव आठ प्रकार के माने गए हैं, यथा स्तम्भ, कम्प, स्वरभङ्ग, वैवर्ण्य (रूप का पीला, स्याह आदि हो जाना), अश्रु, स्वेद, प्रलय (अत्यन्त घबराहट हृदय में हाहाकार मच जाना), और रोमाच। (२) कायिक अगों के आक्षेप स्फुरण आदि, जैसे आँख-भौं चढ़ाना, ओठ फड़काना, हाथ-पाँव, मुँह चलाना आदि। (३) मानसिक आन्तरिक अनुभाव करना।

संचारी भाव- जिस प्रकार एक बहती नदी में भाँति-भाँति की लहरें उठती और पुनः समा जाती हैं, उसी प्रकार कुछ क्षणिक भाव के विकार मन में उठते और पुनः नष्ट हो जाती हैं। ऐसे ही भावों या विकारों को संचारी या व्यभिचारी भाव कहते हैं। ये ३३ प्रकार के होते हैं, यथा निर्वेद, ग्लानि, शंका, गर्व, चिन्ता, मोह, विषाद, दैन्य (दीनता), असूया (डाह), मृत्यु, मद, आलस्य, श्रम, उन्माद, अवहित्थ (आकृति छिपाना), चपलता, अपस्मार (मृगी रोग की सी छटपटाहट), भय, व्रीडा (लज्जा), जड़ता, हर्ष, धृति (धैर्य), मति, आवेग, उत्कण्ठा, निद्रा, स्वप्न, व्याधि, उग्रता, अमर्ष (ग्लानि पैदा हो जाना), विवोध, वितर्क, और स्मृति।

स्थायीभाव— रस के अनुकूल भाव की चेतना को स्थायी भाव कहते हैं, जो रस के बीज-रूप होते हैं। ये रस उत्पन्न होने के आरम्भ से अन्त तक स्थिर रहकर रस का अनुभव कराते हैं। ये नव प्रकार के हैं। प्रत्येक स्थायीभाव अपने रस का मूलाधार होता है।

शृङ्गार रस

रति थाई ते होत है, रस शृङ्गार 'विनीत'।
सो द्वै विधि संयोग पुनि, कहि वियोग की रीति ॥१॥

उदाहरण -संयोग शृङ्गार

छूट्यो गेह-काज लोक-लाज मनमोहिनी को,
भूल्यो मनमोहन को मुरली बजाइबो।
तेखो दिन द्वै मे 'रसखानि' बात फैलि जैहे,
सजनी कहाँ लौं चन्द हाथन दुराइबो॥
कालहू कलिन्दी तीर चितयो अचानक ही,
दोउन को कोऊ मुरि मृदु मुसकाइबो।
दोऊ परैं पैयाँ दोऊ लेत है बलैयाँ,
उन्हें भूलि गईं गैयाँ इन्हे गागर उठाइबो ॥२॥

उदाहरण वियोग शृङ्गार

सुमसीतल मंद सुगंध समीर कछू छल छंद के छ्वै गये हैं।
'पद्माकर' चाँदनी चंदहु के कछु औरहि डौरन च्वै गये हैं।
मनमोहन सो बिछुरे इतही बनिकै न अबै दिन द्वै गये हैं।
सखि वे हम तुम वेइ वने, पै कछू के कछू मन ह्वै गये हैं ॥३॥

हास्य रस

विकृताकृति चेष्टा तथा, वेप देखि सुनि वात।
उपजत थाई हास सो, हास्य 'विनीत' कहात ॥४॥

उदाहरण

दानी कोउ नाहिं ना गुलावदानी गोददानी,
पीकदानी धनी सोभ इनही मे लहे हैं।
मानत गुनी को गुनहीं मे प्रकट देख्यो,
याते गुनीजन मन सावधानी गहे हैं।
हय-दान, हेम-दान, गज-दान, भूमि-दान,
सुकवि सुनाए औ पुरानन मे कहे हैं।
अव तौ कलमदान जुजदान जामदान,
खानदान पानदान कहिवे को रहे हैं ॥५॥

दोना पात बबूर को, तामें तनिक पिसान।
राजाजी करने लगे. छठे छमासे दान ॥६॥

दाम की दाल छदाम के चाउर, घी अँगुरीन ले दूरि दिखायो।
टोनो सो नोन धरयो कछु आनि, सबै तरकारी को नाम गनायो॥
बिप्र बुलाय पुरोहित को, अपने दुख को बहु भाँति गनायो
साहजी आजु सराध कियो, सो भली विधि सों पुरखा फुसलायो॥७॥

करुण रस

इष्ट हानि ते होत जब, हिरदय द्रवित विपन्न
थायी शोक 'विनीत' कहि रस सु करुणा उत्पन्न ॥८॥

उदाहरण

राम भरत-मुख मरन सुनि, दसरथ के वन माँह ।
महि परि मे रोदत उचरि, "हा पितु हा नरनाह" ॥९॥

बतियाँ हुती न सपनेहूँ सुनिवे की सो
सुन्यो मै, जो हुती न कहिवे की सो कहोई मैं ।
रोवैं नर-नारी पच्छी पसु देहधारी रोवें,
परम दुखारी जासो सूलनि सहोई मैं ॥
हाय अवलोकिबो कुपन्थहि गहोई,
विरहागिनि दहोई सोक सिन्धु निवहोई मैं ।
हाय प्रानप्यारे रघुनन्दन दुलारे तुम,
बन को सिधारे प्रान तन लै रहोई मैं ॥१०॥

रौद्र रस

क्रोध रूप धरि उग्र अति, होत जु आविर्भूत ।
कहि 'विनीत' सो रौद्ररस, गिर पर जिमि पुरुहूत ॥११॥

उदाहरण

बोरौ सबै रघुवंश कुठार की धार मे बारन बाजि सरत्थहिं ।
बाण की वायु उड़ाय के लच्छन, लच्छ करौ अरिहा समरत्थहिं ॥
रामहिं वाम समेत पठै बन, शोक के भार मे भूंजौ भरत्थहिं ।
जो धनु हाथ लियो रघुनाथ, तो आजु अनाथ करौं दसरत्थहिं ॥२॥

बारि टारि डारौ कुंभकर्नहिं बिदारि डारौ,
मारौ मेघनादै आजु यो बल अनन्त हौं ।
कहै 'पद्माकर' त्रिकूट हू को ढाहि डारौ,
डारत करेई यातुधानन को अन्त हौ ॥
अच्छहि निरच्छ कपि रुच्छ ह्वै उचारौ इमि,
तोसे तिच्छ तुच्छन को कछुवै न गन्त हौं ।

जारि डारा लंकहिं उजारि डारौं उपवन,
फारि डारौं रावन को तो मैं हनुमन्त हौं ॥१३॥

वीर रस

परिपूरन उत्साह जब, होत हृदय में आन।
उदय होत तहँ वीर रस, चारि प्रकार बखान ॥१४॥
युद्ध दया पुनि दान कहि, धरम सुचारि प्रमान।
कहि 'विनीत' कवि सबन में, है उत्साह प्रधान ॥१५॥

उदाहरण—युद्धवीर

भोर तें साँझ लौं सूर चले, अरु सूर चलै हैं कबन्ध परे लौं।
ये सिरताज गनीमन को, प्रण तौं न टरे दुहुँ लोक टरे लौं॥
ऐसी वही अरबी गरबी, सिव संकर हू यमलोक डरे लौं।
सो सिर काटि गनीमन के, तरवार वही तरवा के तरे लौं ॥१६॥

उदाहरण दयावीर

पापी अजामिल पार किया जेहि नाम लियो सुतही को नरायन।
त्यों 'पदमाकर' लात लगे पर, विप्रहू के पग चौगुन चायन॥
को अस दीनदयाल भयो, दसरत्थ के लाल से सूधे सुभायन।
दौरे गयंद उबारिबे को प्रभु, बाहन छाँड़ि उबाहने पायन ॥१७॥

उदाहरण दानवीर

सम्पति सुमेर की कुबेर की जु पावै ताहि,
तुरत लुटावत बिलम्ब उर धारै ना।
कहै 'पदमाकर' सु हेम हय हाथिन के,
हलके हजारन के बितर बिचारै ना॥
गज गज बकस महीप रघुनाथ राव,
पाय गज धोखे कहूँ काहू देइ डारै ना।
याही डर गिरिजा गजानन को गोइ रही,
गिरि ते गरे ते निज गोद ते उतारै ना ॥१८॥

उदाहरण धर्मवीर,

तृन के समान धनधाम राज त्याग करि,
पाल्यो पितु बचन जो जानत जनैया है।
कहै 'पद्माकर' विवेक ही को बानो बीच,
साँचो सत्यवीर धीर धीरज धरैया है॥
सुमृति पुरान वेद आगम कह्यो जो पंथ,
आचरत सोई सुद्ध करम करैया है।
मोह मति मंदर पुरंदर मही को धन्य,
धरम धुरंधर हमारो रघुरैया है ॥१९॥
धारि जटा बलकल भरत, गन्यो न दुख तजि राज।
मैं पूजत प्रभु पादुकनि, परम धरम के काज।२०॥

भयानक रस

रूप भयंकर देखि कै, उर उपजत भय आन।
ताहि भयानक रस कहैं, कहि 'विनीत' मतिमान ॥२१॥

उदाहरण

बधिर भयो भुव-वलय, प्रलय जलधर जनु गर्जत।
विकल सकल दिकपाल, जटा ससि भाल विसर्जत॥
थिर न होत दसकंध, अंध थरथर उर लर्जत।
उचकि चलत रवि रथ, तुरंग बाहन विधि बर्जत॥
ब्रह्माण्ड गयो डुलिधुनि सुनि, अहि सुमेरु सब दलिमल्यो।
राजाधिराज अवधेस-सुत, चन्द्रचूड़ धरि धनु लयो ॥२२॥
एक ओर अजगरहि लखि, एक ओर मृगराय।
विकल बटोही बीच ही, परो मूरछा खाय ॥२३॥

वीभत्स रस

दृश्य धिनावन देखि सुनि, उर उपजत जो भाव।
थाइ ग्लानि वीभत्स रस, कहि 'विनीत' मतिराव ॥२४॥

उदाहरण

सिर पर बैठो काग, आँख कोउ खात निकारत।
खीचति जीभहिं स्यार, अतिहि आनँद उर धारत॥
गिद्ध जाँघ कहँ खोदि-खोदि कै माँस उचारत।
स्वान आँगुरिन काटि-काटि कै खान विचारत॥
बहु चील नोच लै जात तुच, मोद मढ़ो सबको हियो।
मनु ब्रह्मभोज जजमान कोउ, आजु भिखारिन कहुँ दियो॥२५॥

रिपु-अर्कन की कुंडली, करि जुगिन चु चबाति।
पीबहि मे पागी मनो, जुवति जलेबी खाति॥२६॥

अद्भुत रस

अचरज की थिरता जहाँ, पूरण रूप दरसाय।
अद्भुत-रस सो जानिये, कहि 'विनीत' हरषाय॥२७॥

उदाहरण

लीन्हो उखार पहार बिसाल चल्यो तेहि काल बिलंब न लायो।
मारुत-नंदन मारुत को मन को खगराज को वेग लजायो॥
तीखी तुरा 'तुलसी' कहती पै हिये उपमा को समाउ न आयो।
मानो प्रतच्छ परब्बत की नभ लीक लसी कपि यों धुकि धायो॥२८॥

धन बरखत कर पर धर्‌यो, गिरि गिरधर निरसंक।
सजब गोपसुत चरित लखि, सुरपति भयो ससंक॥२९॥

शान्त रस

चित पूरन निश्चिन्त जब, रहित विकार अनंत।
थाइ भाव निर्वेद कहि, शान्त 'विनीत' कहन्त॥३०॥

उदाहरण

आनँद के कंद जग ज्यावत जगत वृन्द,
दसरथ नन्द के निबाहेई निबहिये।

कहै 'पद्माकर' पवित्र पन पालिवे को,
चारु चक्रपानि के चरित्रन को चहिये।
अवधविहारी के विनोदन मे बीधि-बीधि,
गीध गुन गीधे के गुनानुवाद गहिये।
रैन दिन आठो याम राम राम राम राम,
सीताराम सीताराम सीताराम कहिये।

(ख) छन्दसारावली

छन्द जो रचना मात्रा, वर्ण-संख्या विराम गति आदि के निश्चित नियमों के अधीन होती है उसे 'पद्य' या 'छन्द' कहते हैं।

छन्द-भेद छन्द दो प्रकार के होते हैं (१) मात्रिक या जाति छन्द, (२) वर्णिक या वर्णवृत्त। जिस छन्द के पदों में मात्राओं की संख्या का नियम रहता है उसे मात्रिक छन्द कहते हैं, और जिस छन्द के पदों में वर्णों की संख्या का नियम रहता है, अथवा जिसके पद निश्चित गणों में विभक्त रहते हैं उसे वर्णिक वा वर्णवृत्त कहते हैं।

मात्रा वर्ण के उच्चारण करने में जो काल लगता है उसे मात्रा कल या कला कहते हैं। ह्रस्व स्वरान्त वर्ण एक-मात्रिक और दीर्घ स्वरान्त द्विमात्रिक कहलाते हैं। एक-मात्रिक वर्ण को लघु तथा द्विमात्रिक वर्ण को गुरु कहते हैं। छन्दशास्त्र में लघु के लिये एक खड़ी पाई (।) तथा गुरु के लिये वक्र चिह्न (ऽ) का संकेत बतलाया गया है।

गुरुवर्ण द्विमात्रिक वर्णों के अतिरिक्त संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण (अनुस्वार और विसर्गयुक्त) भी गुरु होता है। कभी-कभी पद के अन्त का लघु वर्ण भी जब द्विमात्रिक के समान बोला जाता है, गुरु माना जाता है।

गण तीन-तीन वर्णों के समूह को कहते हैं। वर्णवृत्त में इन्हीं गणों के द्वारा वर्णों की गणना की जाती है। ये गण आठ हैं। इनके नाम और रूप नीचे दिये जाते हैं:

आदिलघु	यगण	।ऽऽ
मध्यलघु	रगण	ऽ।ऽ
अन्तलघु	तगण	ऽऽ।
आदिगुरु	भगण	ऽ।।
मध्यगुरु	जगण	।ऽ।
अन्तगुरु	सगण	।।ऽ
तीनों गुरु	मगण	ऽऽऽ
तीनों लघु	नगण	।।।

गणों के स्वरूप को स्मरण रखने के लिये नीचे का दोहा काफी है:

आदि मध्य अरु अन्त क्रम, यरता मे लघु जान।
भजसा मे गुरु राखिए, मन गुरु लघु त्रय मान॥

इनमें से भगण, नगण मगण, और यगण शुभ एवं जगण, रगण सगण और तगण अशुभ माने गये हैं। मात्रिक छन्दों के आरम्भ में अशुभ गणों का प्रयोग निषेध है।

प्रत्येक छन्द में प्रायः चार पद या चरण होते हैं। प्रत्येक चरण के अन्त में विराम होता है। किसी-किसी छन्द में चरण के भीतर मे एक दो या अधिक विराम होते हैं। विराम को 'यति' भी कहते हैं चरणों के विचार से छन्द के तीन भेद किए गए हैं।

जिन छन्दों में चारों चरण समान होते हैं उन्हें 'सम', जिनके पहले और तीसरे चरण एक समान, तथा दूसरे और चौथे चरण उसके भिन्न समान हों वे 'अर्द्ध सम' एवं जिनके चरण असमान हों वे 'विषम' कहे जायँगे।
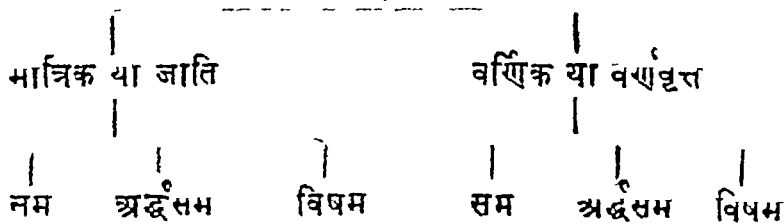
इस पुस्तक में आए हुए छन्दों के लक्षण आगे दिए जाते हैं विद्यार्थियों के सुभीते का विचार करके प्रत्येक छन्द का लक्षण उसी छन्द के एक चरण में दिया गया है। इस प्रकार उसमें उस छन्द का नाम और लक्षण तो आ ही गया है, साथ ही वह लक्षण स्वयं अपने छन्द का उदाहरण भी है।

मात्रिक सम छन्द

उल्लाला "वसु मुनि तेरह 'उल्लाल' में, का अट्ठाइस सों रचै।"
प्रत्येक चरण में ८+७+१३ के विराम से २८ मात्राएँ होती हैं।

चौपाई "सोरह जतन कमन चौपाई'।"
प्रत्येक चरण में १६ मात्राएँ होती हैं। अन्त में जगण और तगण न होने चाहिये।

रोला "रोला की चौबीस कला यति शङ्कर तेरा।"
प्रत्येक चरण में ११+१३ के विराम से २४ मात्राएँ होती हैं।

झूलना "मुनि तीन पुनि पाँच युन गल 'झुलना' प्रथम मतिमान"
प्रत्येक चरण में ७+७+७+५ के विराम से २६ मात्राओं का यह छन्द होता है अंत में गुरु-लघु होना चाहिये।

हरिगीतिका "सोरह रवि लग अंत दै रचि लीजिए, 'हरिगीतिका'।"
प्रत्येक चरण में १६+१२ के विराम से २८ मात्राएं होती हैं। अन्त में लघु-गुरु होता है।

मात्रिक अर्द्धसम छन्द

दोहा "विषम चरण तेरह कला, सम कल ग्यारह होइ।
आदि जगण नहिं, अन्त लघु, रखिये दोहा सोइ।"

प्रत्येक विषम (पहिले और तीसरे) चरणों में १३ मात्राएँ तथा सम (दूसरे और चौथे) चरणों में ११ मात्राएँ होनी चाहिए। विषम चरणों के आदि में जगण न हो और सम चरणों के अन्त मे लघु वर्ण अवश्य होना चाहिए।

सोरठा "सम में तेरह राखि, विषम चरण ग्यारह गनौ।
ताहि सोरठा भाखि, दोहा उलटा जानिए॥"

प्रत्येक सम चरण में १३ मात्राएँ और विषम चरण में ११ मात्राएँ होनी चाहिए। यह दोहा का ठीक उलटा होता है।

मात्रिक विषम छन्द

छप्पय "रोला के पद चार जहँ, उल्लाला पद दोय।
छ-पद युक्त पिंगल कहैं, छप्पय छन्द सु होय।"

प्रथम चार पद रोला के, फिर दो पद उल्लाला के मिलाकर छः पदों के इस विषम (मिश्रित) छन्द को 'छप्पय' कहते हैं। वीर रस के काव्य में इसका प्रयोग ओजपूर्ण होता है।

कुण्डलिया "दोहा रोला जोरि कै, छै पद चौबीस मत्त।
आदि अन्त पद एकसों, करि कुण्डलिया सत्त॥
करि कुंडलिया सत्त, चरन चौथा दोहा को।
धरि रोला के आदि रचिय पद चित मोहा को॥
कहि 'विनीत' कविराय सिंह-अवलोकन सोहा।
रचि कुंडलिया विषम, छंद पहिले धरि दोहा॥"

प्रथम दो पद दोहा के और फिर चार पद रोला के रखिए। दोहा के चौथे पद को ज्यों का त्यों रोला के आदि में सिंहावलोकन के ढङ्ग से रखिए। यह भी ध्यान रहे कि दोहा का प्रथम शब्द रोला का अंतिम शब्द हो। इस प्रकार छः पदों का यह विषम छंद कुण्डलिया कहलाता है।

वर्ण-वृत्त समछन्द

(सवैया के भेद)

मत्तगयंद या मालती सवैया "सात भ दो गुरु दै रचिये, सुभ मालतिमत्तगयंद सवैया।

प्रत्येक चरण मे ७ भगण और दो गुरु होते हैं। इसे मत्तगयंद या मालती सवैया कहते हैं।

दुर्मिल सवैया "यह दुर्मिल नाम सवैयहि जो रखि आठ स तो कविता रचिये।

प्रत्येक चरण में ८ सगण द्वारा २४ वर्णों की यह दुर्मिल सवैया होती है।

किरीट सवैया आठ भ धारत सङ्ग जुपै वह छन्द किरीट कहावत हैं जग।"

प्रत्येक चरण में ८ भगण द्वारा २४ वर्णों की यह किरीट सवैया होती है।

अरसात सवैया आठ भ एक र राखिय जामह, सो अरसात सवैयहि जानिए।"

प्रत्येक चरण में ८ भगण और एक रगण द्वारा २४ वर्णों की अरसात सवैया होती है।

दण्डक

घनाक्षरी या मनहरण (कवित्त) :

"वर्ण इकतीस यति सोरह और पन्द्रह पै,
कहिए कवित्त मनहरण घनाक्षरी ।"

प्रत्येक चरण १६ × १५ वर्णों के विराम से ३१ का होता है। अन्त में गुरु का होना आवश्यक है। इसमें गणों का नियम नहीं रहता।